नवज्योति की नव-मीमांसा

हिन्दुत्व का दार्शनिक विमर्श

प्रसन्न कुमार चौधरी

1. परम्परा और आधुनिकता

युरोपीय आधुनिकता और गैर-युरोपीय परम्पराओं के बीच सम्बन्ध, उनके बीच टकराव और उनकी अन्तःक्रियाएँ पिछली दो शताब्दियों में बौद्धिक विमर्श का अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय रही हैं । दुनिया भर के सर्वश्रेष्ठ मस्तिष्कों ने इस विषय पर समग्रता में, और अपने-अपने देशों के संदर्भ में, गहन मंथन किया है और इस विषय पर विपुल साहित्य भी उपलब्ध है । बहरहाल, यह सिर्फ बौद्धिक विमर्श तक ही सीमित नहीं रहा है; यह प्रश्न इन शताब्दियों में चले सभी राष्ट्रीय मुक्ति अथवा स्वतंत्रता संग्रामों और सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक आन्दोलनों का भी केन्द्रीय प्रश्न रहा है और आज भी है । हमारा आज का समाज इन्हीं अन्तःक्रियाओं का प्रतिफल है । इसके विस्तार में जाने के बजाय एशिया के तीन प्रमुख देशों (जापान, चीन और भारत - जिन्होंने युरोपीय आधुनिकता के सम्मुख तीन अलग-अलग मार्ग अपनाये) का तुलनात्मक अध्ययन हमारे लिए काफ़ी शिक्षाप्रद हो सकता है ।

विचरण* में **नवज्योति सिंह** के साथ **उदयन वाजपेयी** का संवाद भी इसी बहुप्रचलित विषय पर केन्द्रित है । वैसे इसमें आधुनिकता कम, परम्परा के सूत्र पर ज़्यादा ज़ोर है । नवज्योति युरोपीय परम्परा का उत्स ग्रीक परम्परा में देखते हैं, और इस तरह संवाद ग्रीक और भारतीय परम्परा में फ़र्क को रेखांकित करने तथा इस फ़र्क के कारण उत्पन्न सभ्यतागत विभेदों के निरूपण पर केन्द्रित हो जाता है - हम और वे पर । 'पहला रास्ता यूनानी नगर का है, दूसरा सामी सभ्यताओं का और तीसरा हमारी सनातनी व्यवस्था । .. सनातनी सभ्यता स्मृतिमूलक और असुरों से देवताओं के संघर्ष को लेकर बनी है ।' (पृष्ठ 38)

पुस्तक के आरम्भ में ही नवज्योति अपनी केन्द्रीय चिन्ता स्पष्ट कर देते हैं और पूरी बातचीत इसी चिन्ता के इर्द-गिर्द घूमती है: 'अभी तो मुख्य धाराएँ यूनान और आधुनिक युरोप की हैं, जिनमें विधायक शक्ति है । ये धाराएँ हर जगह की वैचारिकी बन रही हैं । .. हमारी धारा में विधायक शक्ति का अभाव हो गया है । हमारे यहाँ पूरा वाङ्मय है, जीवन शैली है, पर विधायक शक्ति नहीं है । .. इस धारा में

विधायक शक्ति कैसे लायी जाय ? इसके लिए आवश्यक है कि यह धारा यूनान और आधुनिक युरोप की दृष्टियों से संवाद करे ।' (पृ. 14)

परम्परा के सूत्र पकड़ कर आधुनिकता से संवाद कोई नई बात नहीं है । पिछले दो सौ वर्षों के दौरान सभी विचारकों/आन्दोलनों ने ऐसा ही करने का दावा किया है । महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि किसने परम्परा का कौन-सा सूत्र पकड़ कर आधुनिकता की किस धारा के साथ संवाद स्थापित करने की कोशिश की है और उसकी क्या उपलब्धि है । विवाद का प्रश्न यही है ।

इसलिए सबसे पहले यह देखना ज़रूरी है कि नवज्योति की नज़र में भारतीय परम्परा क्या है और किस परम्परा में वे **विधायक शक्ति** लाना चाहते हैं ।

2. आईना एक चेहरे अनेक

भारतीय परम्परा एक ऐसा आईना है जिसमें झाँकने से हजार चेहरों का अक़्श उभर आता है । इसमें **वेदों-उपनिषदों** के **ऋषि-मुनि** हैं, **न्याय** के **गौतम** हैं, **वैशेषिक** के **कणाद** हैं, **सांख्य** के **कपिल** हैं, **योग** के **पतञ्जलि** हैं, **पूर्व-मीमांसा** के **जैमिनि** हैं, और **उत्तर-मीमांसा** (अथवा वेदान्त) के **बादरायण** । इसमें **आजीवक** हैं, **तीर्थंकर महावीर** हैं, **गौतम बुद्ध** हैं, **चार्वाक** या **लोकायत** के अनुयायी हैं । इसमें **तिरुवल्लुवर** हैं, **आलवार संत** हैं, **चौरासी सिद्ध** हैं, **तान्त्रिक** सम्प्रदायों के अधिष्ठाता हैं, **वसव** हैं, **शूद्रों** तथा **अन्त्यज समुदायों** से निकले अनेक **समाज-सुधारक संतों-कवियों** के चेहरे हैं । (मध्यकाल और आधुनिक काल को छोड़ दीजिए, सिर्फ़) प्राचीन भारत की विचार परम्परा में ही इतनी विविधता है कि उसकी कोई संक्षिप्त झाँकी भी यहाँ प्रस्तुत नहीं की जा सकती । गणितज्ञों, शिल्पकारों, आयुष वैज्ञानिकों, खगोलविदों, भाषाशास्त्रियों आदि की तो बात ही छोड़िए । अगर आप प्राचीन काल में विभिन्न विचार-सम्प्रदायों के विचारकों को एक जगह इकट्ठा देखना चाहते हैं तो हम आपको हर्षकालीन बौद्ध भिक्षु (मैत्रायणी शाखा के ब्राह्मण) **दिवाकर मित्र** के आश्रम में लिए चलते हैं । **हर्ष** जब अपनी बहन **राज्यश्री** की खोज में एक शबर युवक **निर्घात** की मदद से विन्ध्यवटी स्थित दिवाकर मित्र के आश्रम में पहुँचे तो उस समय निम्नलिखित सम्प्रदायों के दार्शनिक, भिक्षु वहाँ मौजूद थे :

1. आर्हत, 2. मस्करी (पाशुपत), 3. श्वेतपट (सेवड़ा, श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय), 4. पांडुरि भिक्षु (उस युग में आजीवक पांडरि भिक्षु कहलाते थे), 5. भागवत, 6. वर्णी (नैष्ठिक ब्रह्मचारी साधु), 7. केशलुंचन (केशों को लुंच करनेवाले जैन साधु), 8. कापिल (कपिल-मतानुयायी सांख्य), 9. बौद्ध मतानुयायी शाक्य भिक्षु, 10. लोकायतिक (चार्वाक), 11. कणाद (वैशेषिक), 12. औपनिषद (उपनिषद् या वेदान्त दर्शन के ब्रह्मवादी दार्शनिक), 13. ऐश्वरकारणिक (नैयायिक, प्राचीन पाली साहित्य में भी 'इस्सर कारणिक' नाम आया है), 14. कारन्धमी (धातुवादी या रसायन बनानेवाले), 15. धर्मशास्त्री (मन्वादि स्मृतियों के अनुयायी), 16. पौराणिक, 17. सप्ततन्तव (सप्ततन्तु

अर्थात् यज्ञवादी मीमांसक), 18. शाब्द (व्याकरण दर्शन वा शब्द-ब्रह्म के अनुयायी, जिनके विचारों का परिपाक भर्तृहरि के वाक्यपदीय में मिलता है), 19. पांचरात्रिक (पंचरात्र-संज्ञक प्राचीन वैष्णव मत के अनुयायी) । इसके अतिरिक्त और भी मत-मतान्तरों के माननेवाले वहाँ एकत्र थे ।[1]

बहरहाल, प्राचीन भारत सिर्फ़ आर्य-जनों का वास-स्थान नहीं था । प्राचीन काल से ही अनार्य जनों - द्राविड़, नाग, संताल-मुण्डा, निषाद, शबर, किरात, असुर, गोंड, भील, मेघ आदि जनों ने अपने श्रम और रक्त से इस भूमि को सींचा है । उनका अपना जीवन-मूल्य और जीवन-दर्शन रहा है, अपनी सृष्टि-कथाएँ रही हैं । इन जनों की वाज़िब शिकायत रही है कि जब भी भारत की विचार-परम्परा की बात होती है तब इस परम्परा के निर्माण में उनके योगदान का ज़िक्र तक नहीं किया जाता है । यह स्वीकार ही नहीं किया जाता कि उनकी भी समृद्ध वैचारिक विरासत है - सारी चर्चा ब्राह्मण दर्शनों और बौद्धों के दर्शन की चारदीवारी में सिमट कर रह जाती है ।

इस तरह हम परम्परा नहीं, परम्पराओं वाले लोग हैं । परम्पराओं की बहुलता तथा विविधता का स्रोत यह है कि प्राचीन काल से ही यह देश अनेक जनों का क्रियास्थल रहा है । शताब्दियों के दौरान इन जनों के बीच अनेक स्तरों पर सम्बन्ध बने; उनके विचारों, जीवन-मूल्यों, रीति-रिवाजों आदि का आदान-प्रदान हुआ । विभिन्न जनों के इसी समागम के क्रम में शताब्दियों के दौरान इन जनों के पराग-कणों से भारतीय जनों की **मधु-संस्कृति** विकसित हुई ।

बहरहाल, इसी समागम के क्रम में जनों, समुदायों-जातियों, वर्गों के बीच से समय-समय पर वर्चस्वशाली शक्तियों का भी उदय हुआ - एक अथवा कुछेक जनों-समुदायों-जातियों-वर्गों ने अपना विचार, अपनी परम्परा, रीति-रिवाज, अपनी सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था अन्य जनों-जातियों-वर्गों पर थोप दिया । यह **एक** के **एकमात्र** होने की वर्चस्वशाली **विष-संस्कृति** है जिससे हमारा समाज (स्वरूप में परिवर्तनों के बावज़ूद) आज तक आक्रांत है । हमारा समाज मधु और विष की इसी अन्तःक्रिया का साक्षी रहा है । हमारे समाज में पहले से ही फैला यह ज़हर नीलकण्ठ की तरह बाँधा जानेवाला ज़हर नहीं है - यह हमारी परम्परा की **अन्दरूनी अन्धकारमयता** का, उसकी **गतिरुद्धता** तथा **बाह्य अन्धकारमयता के समक्ष उसके समर्पण** का वास्तविक स्रोत है ।

हमारे इतिहास में ऐसे सम्राट् और राजा भी हुए जिन्होंने किसी एक विचार-परम्परा के प्रति अपनी निजी पसंद के बावज़ूद उसे सब पर थोपने की कोशिश नहीं की, और विभिन्न मतावलम्बियों को अपने-अपने मत का प्रचार-प्रसार करने की स्वतंत्रता प्रदान की तथा उनके बीच संवाद को बढ़ावा दिया । इतिहास के ऐसे दौर ही सबसे सृजनात्मक दौर भी रहे ।

अपनी परम्परा पर विचार करते समय हमें निम्नलिखित तथ्यों को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए :

क. लगभग सभी विचार-शाखाओं की अपनी-अपनी वंशावली रही है, उनके बीच वाद-विवाद का भी काफ़ी समृद्ध इतिहास है, और समय-समय पर कुछ विचारकों ने सभी विचार-शाखाओं का सार-संग्रह भी प्रस्तुत किया है ।

ख. भले ही किसी विचार-शाखा की उत्पत्ति किसी खास स्थान पर हुई हो, अपने विकास-क्रम में शताब्दियों के दौरान उनका प्रसार लगभग पूरे देश में हो जाता रहा है । विचारक और उनके शिष्य प्रायः विचरण करते रहते, पाण्डुलिपियाँ तैयार की जाती रहीं और उनका आदान-प्रदान भी चलता रहता । इस दौरान मूल विचार-शाखा की नयी-नयी उप-शाखाएँ बनती रहतीं । हर विचार-शाखा के मूल पाठ पर भाष्य, टीकाएँ आदि लिखी जाती रहीं, इन टीकाओं पर वाद-विवाद चलता रहता और नये-नये सम्प्रदाय भी बनते रहते - मूल पाठ पर अपनी टीका लिखते-लिखते टीकाकार स्वभावतः अपनी नयी प्रस्थापनाओं के साथ उपस्थित होता, भाष्य एक स्वतंत्र रचना और एक नये सम्प्रदाय के मूल पाठ का स्थान ग्रहण कर लेता । (वैसे समय बीतने के साथ इन टीकाओं-उपटीकाओं की गुणवत्ता का प्रायः ह्रास ही होता गया ।)

ग. अपने समय के अनेक ब्राह्मण और बौद्ध विचारक सम्राटों तथा प्रभावशाली राजाओं के शिक्षक, मार्गदर्शक अथवा मित्र रहे थे । इस तरह राज-साम्राज्य के नीति-निर्माण में भी उनकी महत्वपूर्ण भूमिका हुआ करती थी । **चाणक्य** मौर्य साम्राज्य के संस्थापक **चन्द्रगुप्त मौर्य** के मार्गदर्शक थे तो महान बौद्ध (स्थविरवादी) दार्शनिक, अभिधर्म की पुस्तक **कथावत्थु** में वर्णित 214 कथावस्तुओं में 73 के रचनाकार **मोग्गलिपुत्त तिस्स** सम्राट **अशोक** के गुरु थे । बौद्ध दार्शनिक **नागसेन** ग्रीक राजा **मिनान्दर** के गुरु थे, तो **नागार्जुन** तीन समुद्रों के स्वामी शातवाहन **गौतमीपुत्र यज्ञश्री** के सुहृद थे और **वसुबन्धु** गुप्त सम्राट **चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य** के शिक्षक ।

घ. इस दार्शनिक विमर्श में लगभग सभी-के-सभी दार्शनिक **ब्राह्मण-क्षत्रिय पुरुष** थे - आबादी की विशाल बहुसंख्या इस विमर्श से बाहर थी । उनके लिए पढ़ना-लिखना निषिद्ध था - किसी दार्शनिक विमर्श का भागीदार होने का तो सवाल ही नहीं उठता ।

वेद और आरम्भिक उपनिषदों के रचनाकाल में जब वर्ण-जाति व्यवस्था सुदृढ़ नहीं हुई थी तब इस मामले में शिथिलता जरूर दिख जाती है - कुछ स्त्रियों के दार्शनिक विमर्श का हिस्सा होने का प्रसंग तो ज्ञात है ही, वर्णों के बीच एक वर्ण से दूसरे वर्ण में शामिल होने, पिता के नाम से अनजान अपनी माताओं के नाम से विख्यात ऋषियों के प्रमाण भी मिलते हैं । वर्ण-जाति व्यवस्था योजना बनाकर किसी एक दिन मध्यरात्रि से अस्तित्व में नहीं आई । उसे जड़ीभूत होने में शताब्दियाँ लगी और इस दरम्यान उसमें जो शिथिलता दिखाई देती है, उसका उदाहरण देकर अनेक विचारक उसके अस्तित्व को ही नकारते रहे हैं ।

बहरहाल, **सिद्धार्थ गौतम** के रंगमंच पर आने के समय तक वर्ण-जाति व्यवस्था जड़ रूप ले चुकी थी । इसलिए उन्हें यह कहना पड़ा कि जातिभेद प्राकृतिक नहीं है (वासिष्ठ-सुत्त); कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से प्रकट होने का जो दावा करते हैं, वह गलत है (अस्सलायन-सुत्त); कि ब्राह्मणों को कोई अधिकार नहीं कि वे दूसरे वर्णों के कर्त्तव्याकर्त्तव्य निश्चित किया करें (एसुकारि-सुत्त); और कि नैतिक एवं आर्थिक दृष्टि से जाति-भेद की कल्पना विडम्बना-मात्र है (मधुर-सुत्त, **महाकात्यायन**) ।[2] बौद्ध धर्म के उत्थान के बाद और जाति-व्यवस्था पर उसके प्रहार के फलस्वरूप (बौद्ध दार्शनिकों-विचारकों के बीच) वैश्य तथा शूद्र जातियों से कुछेक महत्वपूर्ण विचारकों की उपस्थिति देखी जा सकती है । आगे चलकर तांत्रिक सम्प्रदायों में भी ऐसा देखने को मिलता है ।

अनेक दार्शनिक-कवि-संतों द्वारा लोकभाषा में रचित दोहों के जरिये विभिन्न दार्शनिक सूत्रों का लोक में भी प्रचार-प्रसार हुआ । दार्शनिक सूत्रों को कम-से-कम शब्दों में सहजता के साथ व्यक्त तथा कंठस्थ करने के माध्यम के रूप में सूत्र, कारिका और दोहा की शैली भाषा में विकसित की जा चुकी थी ।[3] अपने-अपने समय के वर्चस्वशाली विचारों तथा कर्मकाण्डों-रीतिरिवाजों का 'युगीन विचार-रीतिरिवाज' के रूप में आम जनों तक विस्तार होता रहता ।

ङ. प्राचीन काल की कोई भी विचार-परम्परा आज हमारा मार्गदर्शक **नहीं** हो सकती । प्रत्येक पीढ़ी को अपना मार्गदर्शक विचार, नीति-आचार आदि ख़ुद ही विकसित करने होते हैं । प्राचीन काल के दार्शनिक विमर्श से हम काफ़ी कुछ सीख सकते हैं, अनेक विचारकों तथा उनके कर्मों और आन्दोलनों से हम प्रेरणा ले सकते हैं, लेकिन वे हमें अपने आज के दायित्व से मुक्त नहीं कर सकते ।

च. आज भी हमारे समाज के विभिन्न समुदाय, जाति, वर्ग आदि सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक रूप से भिन्न-भिन्न स्थितियों में हैं; उनके बीच के सम्बन्ध समानता, सम्मान और समुचित भागीदारी पर आधारित नहीं हैं । इसलिए, स्वाभाविक है कि आज भी अपनी अग्रगति के लिए प्रयासरत इन समुदायों, जातियों और वर्गों के लोग परम्पराओं की बहुलता के बीच (बौद्ध विज्ञानवादियों की शब्दावली में **आलय-परम्परा** से) **अपने-अपने प्रेरणा-सूत्रों का चुनाव करें । परम्परा का कोई एक सूत्र सभी का प्रेरणा-सूत्र नहीं हो सकता । आलय-परम्परा अलग-अलग समूहों को अपने-अपने प्रेरणा-सूत्र चुनने का अवसर प्रदान करती है** ।

छ. भारतीय परम्परा की तरह युरोपीय आधुनिकता की भी कई धाराएँ हैं । इस प्रकार परम्परा और आधुनिकता के द्वन्द्व से जूझते अलग-अलग समुदायों, जातियों तथा वर्गों को न सिर्फ़ अपनी परम्परा की बहुलता से बल्कि युरोपीय आधुनिकता की विभिन्न शाखाओं से भी अपना-अपना प्रेरणा-सूत्र चुनना होता है । **आधुनिकता की भी कोई एक धारा सभी का प्रेरणा-स्रोत नहीं हो सकती ।**

ज. एक ही समय में कोई व्यक्ति, संगठन अथवा आन्दोलन अपने विभिन्न कार्यभारों के क्रियान्वयन के दौरान अलग-अलग परम्पराओं से प्रेरणा ग्रहण कर सकता है, भले ही अपने काल में इन परम्पराओं के प्रवर्त्तकों के बीच गंभीर मतभेद रहे हों । खगोलविद्या के क्षेत्र में काम करनेवाले **आर्यभट** से या **वराहमिहिर** से प्रेरणा ले सकते हैं; तर्कशास्त्री अथवा मशीन लर्निंग के क्षेत्र में काम करनेवाले नैयायिकों के बीच से अपनी पसंद के **नैयायिक** चुन सकते हैं; उच्च कार्बन फुटप्रिंटवाली (अमेरिकी) जीवनशैली का विकल्प ढूँढ़नेवाले **आदिवासी समुदायों के जीवन-दर्शन** में अपने लिए महत्वपूर्ण सूत्र पा सकते हैं, आदि । कुल मिलाकर, शताब्दियों की दूरी के कारण हमारे लिए परम्पराओं के महासागर में गोते लगाकर अपनी-अपनी पसंद के मोती चुनना संभव हुआ है ।

इसलिए देखना यह है कि हमारे समाज का कौन समूह हमारी परम्पराओं के बीच **किस ख़ास परम्परा अथवा किन-किन परम्पराओं के सूत्र लेकर आधुनिकता की किस धारा अथवा किन-किन धाराओं के साथ उसे या उन्हें संयुक्त करना चाहता है और इस सम्मिलन का हमारे समाज की सृजनात्मकता पर क्या प्रभाव पड़ता है** - वह हमें अन्दरूनी और बाह्य अन्धकारमयता से मुक्त कर समाज में व्यक्तियों और समुदायों के बीच समानता, पारस्परिक सम्मान, भागीदारी को संभव बनाते हुए वैज्ञानिक प्रगति, समावेशी आर्थिक समृद्धि और सामाजिक-राजनीतिक जीवन के जनतांत्रीकरण में किस हद तक कामयाब हो पाता है । परम्परा के विभिन्न सूत्रों के साथ आधुनिकता की विभिन्न धाराओं की अन्तःक्रिया पिछले करीब दो सौ वर्षों से हमारे वैचारिक-सांस्कृतिक-आन्दोलनात्मक जीवन का अभिन्न अंग रही है । इसकी अपनी उपलब्धियाँ हैं, साथ ही अपनी समस्याएँ भी । बहरहाल, यह अन्तःक्रिया कोई नई बात नहीं है और इसके लिए उदाहरण देने की ज़रूरत नहीं है ।

विचरण में नवज्योति सिंह के लिए भारतीय परम्परा का अर्थ **मीमांसा की परम्परा** है और वे मीमांसा का सूत्र थामकर 'आधुनिकता के बैल को उसके सींगों से पकड़ने' (पृ. 21-22) का प्रयत्न करते हैं ।

बहरहाल, **भारतीय परम्परा को मीमांसा की परम्परा तक सीमित कर देना परम्परा का अतिसंकुचन है** । मीमांसा की परम्परा में भी कई उप-धाराएँ हैं, लेकिन नवज्योति की पसंद **वैशेषिक मीमांसा** (पृष्ठ 66) है । इस पुस्तक में उन्होंने जो विचार प्रस्तुत किया है, वह उन्हें पुरानी **जैमिनीय मीमांसा** के काफ़ी क़रीब ले जाते हैं ।

3. मीमांसा के साथ अन्याय

पूरे साक्षात्कार में नवज्योति इस बात पर बार-बार ज़ोर देते हैं कि हमारी आज की समस्याओं का कारण **मीमांसा की परम्परा के साथ किया गया अन्याय है** । वे जब-जब परम्परा, श्रेष्ठता, पाण्डित्य की चर्चा

करते हैं तो उसका सम्बन्ध मीमांसा से ही होता है । साक्षात्कार के अन्तिम दस-बारह पृष्ठों में वे अपनी मीमांसा दृष्टि का कुछ विस्तार से ख़ुलासा करते हैं । पहले **अन्याय** की बातें :

'यह परम्परा क्षीण कैसे हो गई ? यह सबको दिखता है । सबसे **अन्याय** की बात यह है कि श्रेष्ठता और कुशलता को सुनने-समझनेवाला कोई न बचे । इससे बड़ा अन्याय कोई नहीं है । चूँकि परम्परा में श्रेष्ठता को समझने, उसे थामने, उसे आगे चलाने पर किसी ने ध्यान नहीं दिया, परम्परा क्षीण होती चली गई । ..' (पृ. 17) बनारस में मीमांसा के पण्डित **पट्टाभिराम शास्त्री** का उदाहरण देते हुए वे लिखते हैं : 'यह पाण्डित्य के संकुचन का दृष्टांत है । इस संकुचन में बहुत बड़ा अन्याय दिखता है । ..' (पृ. 18-19)

नवद्वीप में (जहाँ रघुनाथ न्याय शिरोमणि हुए थे) टोल-आधारित शिक्षा प्रणाली के ह्रास और आधुनिक कॉलेज-आधारित शिक्षा प्रणाली के विकास से नवज्योति काफ़ी व्यथित हैं । '.. इस तरह पाण्डित्य का संकुचन हुआ है । इसी संकुचन की नींव के ऊपर गांधीजी और अन्य लोग आये हैं । इस तरह श्रेण्ठता के साथ अन्याय हुआ है । यह (अ)न्याय आज भी जारी है । ..' (पृ. 21)

'गांधीजी का कहना यह था कि आप जो भी काम करो, उससे पहले अपनी आवश्यकता की पूर्ति करो .. उनका इस किस्म का **सामी** विचार था । यहाँ दो तरह की विचार भंगिमाओं में टकराव था । माँ पहले बच्चों को खिलाएगी फिर ख़ुद खाएगी । उसी तरह मिस्त्री सबसे बढ़िया घर अपना नहीं, दूसरों का बनाएगा । इसी तरह बुनकर बढ़िया कपड़ा यजमान को बेचेगा । अगर वह सबसे अच्छा कपड़ा ख़ुद पहनने लगा, उसकी कला ख़त्म हो जाएगी, उसका शास्त्र ख़त्म हो जाएगा । पर गांधीजी का कहना था कि पहले अपने लिए करो फिर जो बच जाय उससे दूसरे का । ..' (पृ. 34)

'बड़ी संख्या में कारीगर और पण्डित स्वतंत्रता आन्दोलन से दूर रहते आये । यह सच है कि **पण्डित मदनमोहन मालवीय** जैसे पण्डित राष्ट्रीय आन्दोलन में थे, पर उदाहरण के लिए कोई **मीमांसक** या इस किस्म का कोई आचार्य उसमें नहीं था, न ही कोई कारीगर थे । ..' (पृ. 35)

'हमारे यहाँ गांधीजी या नेहरू ने परम्परा को कमजोर विचार में ग्रहण किया । इस कमजोर विचार से अन्याय हुआ । इसके फलस्वरूप यहाँ की अध्येतावृत्ति समाप्त हो गई । यहाँ श्रेष्ठता का सम्मान नहीं है । .. श्रेष्ठता शिष्टता पर खड़ी होती है, वह हो नहीं पाती । ..' (पृ. 52)

'मुझे वैशेषिक मीमांसा पसंद है । इसी वैशेषिक का विस्तार समाज और विधि तक हो जाता है । ..' (पृ. 66)

'न्याय मीमांसात्मक होता है ।' (पृ. 76)

'पुराने ज़माने में कुछ ऐसे लोगों की कल्पना की जाती थी, जो अपने कुकर्मों के कारण अद्विज हो जाते थे, आधुनिक काल में अँग्रेजों के आने के बाद इन्हें ही दलित कहा जाने लगा । अँग्रेजों के झूठे इतिहास में ये अद्विज चिरकाल से सताये गये दलित बन गये हैं और इसी तरह जाति प्रथा बन गई, बिल्कुल स्थिर ठहरी हुई । ..' (पृ. 79)

अब नवज्योति की मीमांसा-दृष्टि जिसके जरिये वे उपर्युक्त **अन्याय** का समाधान करना चाहते हैं :

'सभी समाजों के लोग यह समझते हैं कि समाज में सम्प्रभुता के सृजन में शिष्टता हो । अशिष्ट व्यवहार की आलोचना हर जगह है । हर समाज में शिष्ट व्यक्ति बनेगा, वह उस समाज की नैतिक बुनावट को सम्भाल कर रखता है । वह उदाहरण बन जाता है । हमारे यहाँ मर्यादा पुरुषोत्तम की धारणा में यही मिलता है । .. इसका आधार हम सनातन परम्परा में से, **विशेषकर मीमांसा शास्त्र** से दे सकते हैं । उसके अनुसार मानवीय कर्म का विश्लेषण करने से शिष्टता का बोध उत्पन्न किया जा सकता है । ..' (पृ. 69)

'कार्यान्त में शरीर आता है, कार्य के आरम्भ में अन्तःकरण होता है । जिसमें संकल्प और प्रयोजन आदि होते हैं, पर कार्य के अन्त में शरीर आ जाता है । इसके बगैर क्रिया का अनुष्ठान नहीं हो सकता । क्रिया की समाप्ति पर उसके फल की सृष्टि हो जाती है, उसका असर अलग-अलग लोगों पर भविष्य में होता है । इसमें समय का एक अन्तराल आता है । जब भी आप कोई क्रिया करते हैं, उसका फल किसी और परिस्थिति, देशकाल में होता है । वह तुरन्त नहीं होता । इसके कारण अन्तर्विरोध उत्पन्न हो जाते हैं, किसी को किसी की क्रिया बुरी लग सकती है । यह अन्तर्विरोध किस आधार पर सुलझाये जा सकेंगे ? .. अगर आप यह मान लें कि इनमें से कुछ अन्तर्विरोध कभी और कहीं और सुलझे थे । आप एक वैचारिक प्रयोग करें कि जब-जब और जहाँ-जहाँ भी न्याय हुआ, जिस किसी समय में, जिस किसी जगह पर उन सबको एकत्र कर लें । अगर हम एक ऐसा समुच्चय बनाते हैं, हम पाएँगे जो न्याय एक जगह हुआ वह दूसरी जगह हुए न्याय से अलग था । .. मैंने यह प्रश्न उठाया कि किस परिस्थिति में न्याय अभिन्न हो सकता है ? अगर दो बातें स्वीकार कर ली जाएँ, तो यह समुच्चय अभिन्न बना रहता है । .. एक परासिद्धान्त के तहत आपको यह मानना ही होगा कि सभी विवाद सिद्धान्ततः समाधेय हैं । .. इसी से जुड़ा हुआ एक और सिद्धान्त आपको मानना होगा कि किसी भी विवाद के पीछे की परिस्थिति और कथ्य ज्ञेय है क्योंकि अगर कोई पूरी तरह गुप्त कर्म है और वह विवाद उत्पन्न कर रहा है, आप उसका समाधान नहीं कर सकते । इसलिए दूसरा सिद्धान्त यह है कि ऐसा कोई कर्म नहीं है, जो आत्यन्तिक रूप से गुप्त हो । .. अगर ये दो परासिद्धान्त स्वीकृत होते हैं यानी अगर यह स्वीकृत होता है कि सभी विवादों में न्याय संभव है और सभी कर्म ज्ञेय हैं, तो जिस समुच्चय की बात हम कर रहे हैं वह अन्तर्विष्ठ हो सकता है । .. यह समुच्चय सार्वभौमिक है । **मीमांसा की दृष्टि** से हम यह कहते हैं कि हर कर्म के पीछे कुछ विधियाँ होती हैं, उन्हीं से वह घटित होता है और उन्हीं से वह समझ में आता है । .. इसलिए उक्त समुच्चय के भीतर ऐसी विधियाँ होनी चाहिए जिनकी संगति इस समुच्चय के दोनों सिद्धान्तों से हो : **हर विवाद समाधेय है और कोई भी कर्म पूरी तरह गुप्त नहीं हो सकता** । ये वो विधियाँ नहीं होंगी जो किसी व्यक्ति ने तैयार की हों । ये विधियाँ किसी भी व्यक्ति से स्वायत्त होनी चाहिए । ये विधियाँ कालबद्ध भी नहीं होनी चाहिए । इन्हें **अनादि** होना चाहिए । दूसरे शब्दों में, **ये विधियाँ अपौरुषेय और अनादि होनी चाहिए । अपौरुषेय और अनादि विधियों की संहिता को वेद कहा जाता है । इस तरह इस समुच्चय की विधियों से वेद बन जाते हैं । यह वेद हर व्यक्ति में स्वायत्ततः उपलब्ध है ।** ..' (पृ. 70-71)

'न्याय मीमांसात्मक होता है । .. इसके कुछ परासिद्धान्त होते हैं । दरअसल, **अनुष्ठित वेद तो वेद का शरीर भर है । मीमांसक इसे अर्थवाद कहते हैं ।** ..' (पृ. 76-77)

जिसने भी मीमांसा-दर्शन के बारे में थोड़ा-बहुत पढ़ रखा है, वह आपको तुरत बतला देगा कि नवज्योति की इन सूक्तियों में नया कुछ नहीं है । मीमांसा साहित्य में ये सारी बातें काफ़ी विस्तार में उपलब्ध हैं । नवज्योति भी स्वीकार करते हैं : '**इस व्याख्या में सारी शब्दावली मीमांसा की नहीं है, आधुनिक भी है, पर इससे यह सब निकल आता है ।**' (पृ. 73) बहरहाल, यहाँ (पूर्व-)मीमांसा दर्शन की संक्षिप्त चर्चा अपेक्षित है ।

4. अथातो मीमांसां व्याख्यास्यामः

पूर्व-मीमांसा वेद-आधारित छः ब्राह्मण दर्शनों (सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा) में से एक है । (वैसे कुछ विद्वान सांख्य और योग को बहुत हद तक वेद से स्वायत्त मानते हैं । आगे से पूर्व मीमांसा के लिए सिर्फ़ मीमांसा और उत्तर-मीमांसा के लिए वेदान्त का प्रयोग किया जाएगा ।) वेदों को दो भागों में बाँटकर देखा जाता है - **ज्ञानकाण्ड** और **कर्मकाण्ड** । वेदान्त कर्मकाण्ड का निषेध किये बिना ज्ञानकाण्ड पर ज़ोर देता है, वहीं मीमांसा ज्ञानकाण्ड को अर्थवाद घोषित कर कर्मकाण्ड की बुनियाद पर अपनी इमारत खड़ी करता है । नवज्योति भी इसी मीमांसक दृष्टि का पक्षपोषण करते हुए लिखते हैं, 'दरअसल अनुष्ठित वेद तो वेद का शरीर भर है । मीमांसक इसे अर्थवाद कहते हैं । निश्चय ही उसकी स्मृति बनाये रखना एक विशेष कार्य है । उसका उच्चारण भी वही बनाये रखा गया है । यह भी एक महत्वपूर्ण कार्य था जिसका सम्मान होना चाहिए ।' (पृ. 77)

वेद-संहिताओं की रचना के परवर्तीकाल में विभिन्न ऋषियों द्वारा यज्ञ-कर्मकाण्ड की विधि तथा व्याख्या के लिए कई पीढ़ियों तक **ब्राह्मण-ग्रंथों** (शतपथ, ऐतरेय, तैत्तिरीय, षड्विंश, गोपथ आदि) का प्रणनयन किया जाता रहा - इन्हीं ब्राह्मण-ग्रंथों में से कुछ के अन्तिम भाग **आरण्यक** और **उपनिषद्** हैं (वैसे **ईश उपनिषद् यजुर्वेद** का ही अन्तिम चालीसवां अध्याय है) ।

प्राचीन काल के पुरोहितों के लिए यह एक बड़ी समस्या थी कि वेद के किन-किन मंत्रों के साथ कौन-कौन यज्ञ सम्पन्न किये जायें और उनकी प्रक्रियाएँ क्या हों - ये विधियाँ विभिन्न ब्राह्मण-ग्रंथों में बिखरी हुई थीं । इन विधि-विधानों को सूत्रबद्ध करने की भी एक परम्परा बनी, कितने ग्रंथ रचे गये जिन्हें **कल्प-सूत्र** अथवा **प्रयोगशास्त्र** कहा जाता है । कल्प-सूत्रों में **श्रौत-सूत्रों** के जरिये यज्ञों की सारी प्रक्रियाओं को व्यवस्थित रूप देने की कोशिश की गई (जैसे, यजुर्वेद का कात्यायन श्रौत-सूत्र) । जाहिर है, इस सूत्रीकरण के क्रम में मतभेद भी उभरे और पुरोहितों की विभिन्न शाखाओं का जन्म हुआ । सूत्रीकरण की इसी परम्परा में मीमांसा-दर्शन के प्रवर्तक **जैमिनि** के **मीमांसा-सूत्र** को देखा जाता है । जैमिनि के समय को लेकर विद्वानों में काफ़ी मतभेद है - **राधाकृष्णन** उनका समय ईसापूर्व चौथी सदी मानते हैं तो **राहुल सांकृत्यायन** ईस्वी सन् चौथी सदी में (300 ई. के आसपास) ।

क़रीब 2500 सूत्रों और बारह अध्यायों में विभक्त जैमिनि के मीमांसा-सूत्र में सिर्फ़ पहले अध्याय में दार्शनिक महत्व के कुछ सूत्र हैं - शेष सभी अध्यायों में यज्ञ-कर्मकाण्डों का, बलियों और उनके उद्देश्यों तथा फलों का वर्णन है । मीमांसा-सूत्र के पहले सूत्र में ही जैमिनि अपना उद्देश्य स्पष्ट कर देते हैं - **'अथातो धर्मजिज्ञासा'** ('अब यहाँ से धर्म की जिज्ञासा आरम्भ होती है ।' **वाचस्पति मिश्र** ने जिज्ञासा को परिभाषित करते हुए **'भामती'** में लिखा है, **'जिज्ञासया संदेहप्रयोजने सूचयति'** । इस तरह मीमांसा-सूत्र का उद्देश्य धर्म के बारे में उत्पन्न शंकाओं का समाधान करना है ।) दूसरे सूत्र में धर्म की परिभाषा है - **'चोदनालक्षणार्थो धर्मः'** अर्थात् **वेद की प्रेरणा** (चोदना या विधि) **से किया गया कर्म ही धर्म है** । ब्राह्मण-ग्रंथों में ऐसे प्रेरणा-वाक्य सत्तर के क़रीब हैं जिनमें यज्ञों का विधान किया गया है और उनसे प्राप्त होनेवाले फलों का वर्णन है । जैमिनि के लिए शास्त्र अथवा वेद इन सत्तर के क़रीब उत्पत्ति-विधियों का संग्रह है । ये अपने-आप में कर्मकाण्डों का सबसे बड़ा प्रमाण हैं और इनको विधिपूर्वक संपन्न कर इच्छित फल प्राप्त किया जा सकता है । जैमिनि के अनुसार, वेद नित्य है; वर्ण नित्य, अविकारी द्रव्य हैं , शब्द-अर्थ का सम्बन्ध नित्य है ; वेद के शब्द स्वतःप्रमाण हैं (शब्दप्रमाणवाद) ।

आधुनिक शब्दावली में कहें तो (जैसे हमारे शरीर में अरबों अक्षरोंवाला जेनेटिक कोड है जिससे हमारा शरीर संचालित होता है, कुछ उसी तरह) सारा संसार एक शब्द-कोड से संचालित है - जो था, जो है और जो होगा, सब कुछ इस कोड में समाहित है । इस कोड का, जिसे वेद कहते हैं, कोई रचयिता नहीं; वह **अकृत है, नित्य और अविकारी** है । इसलिए पुरानी मीमांसा **अनीश्वरवादी** है (बाद में मीमांसा में ईश्वर का भी प्रवेश हो गया, तब भी वेद की सर्वोच्चता बरकरार रही) ।

वेद **अनादि** और **अपौरुषेय** है । पुरुष में कमियाँ हो सकती हैं, राग-द्वेष के कारण उसके वचन पूर्वाग्रहयुक्त या गलत हो सकते हैं, वे विकारग्रस्त हो सकते हैं । वेद नित्य और अविकारी हैं, इसलिए अपौरुषेय हैं । वे गुरु-शिष्य परम्परा से आये हैं, उनके कर्त्ता का कुछ अता-पता नहीं चलता, इसलिए वे अनादि हैं । वेद-मंत्रों में ऋषियों के जो नाम आते हैं या जो भी नाम आते हैं, वे सब प्रतीकात्मक हैं, व्याकरण के धातु-प्रत्ययों के आधार पर उनकी व्याख्या की जानी चाहिए । **विश्वामित्र** का अर्थ है सार्विक मैत्रीभाव । **प्रावाहणि** किसी प्रवहण के पुत्र का नाम नहीं, बहनेवाली हवा का नाम है । ये ऋषि मंत्रों के रचयिता नहीं, उनके **द्रष्टा** हैं । इस आधार पर **नवज्योति किसी व्यक्ति का नाम नहीं, मीमांसा पर नया प्रकाश है** । वे रचयिता नहीं, उन्होंने जो पहले से ही था उसे बस प्रकाशित किया है ।

मीमांसा के अनुसार, यह वेद तो पूरे जगत में, हमारे अन्दर भी व्याप्त है, लेकिन उसके प्रति हम सजग नहीं होते, अन्तःप्रज्ञा के रूप में रहने के बावज़ूद वह समय-समय पर ही अभिव्यक्त होता है अथवा प्रकाशित होता है - वेद के अनुसार विधिपूर्वक कर्म करनेवाले ऋषि-मुनियों के समक्ष ही वह कभी-कभी

प्रकट होता है । शुद्ध उच्चारण के साथ वेद-मंत्रों का पाठ शब्दों को पैदा नहीं करता, बल्कि प्रकाशित करता है ।

यह नित्य वेद प्रत्येक युग में - कृत, त्रेता, द्वापर, कलयुग में - रहा है, और आगे भी रहेगा । वेद की कितनी ही शाखाएँ अब अगर प्राप्य नहीं हैं तो इसका मतलब यह है कि वे अब प्रकाशित नहीं हैं; नित्य होने के कारण वह शब्दराशि कहीं-न-कहीं तो है ही । स्मृति और शिष्टाचार अगर वेद-विरुद्ध न हों तो उन्हें भी धर्म मानना चाहिए - भले ही वे अब प्रकाशित न हों, किन्हीं ऋषियों द्वारा किसी युग में वे वेद-वाक्य प्रकाशित हुए होंगे और अब वे ऋषियों द्वारा रचित ग्रंथों में और सदाचार में सुरक्षित हैं ।

ऐसी कोई समस्या नहीं जिसका वेद में समाधान नहीं और ऐसा कोई ज्ञान अथवा कर्म नहीं जो गुप्त हो । नवज्योति मीमांसा के इसी वैचारिक सूत्र को **दो परासिद्धान्त** कहते हैं ।

दर्शन की तुलना में मीमांसा का ज़ोर कर्मकाण्ड और वेद की नित्यता और सार्वभौमिकता पर है । पुरोहित वर्ग मीमांसा का सामाजिक आधार है और पुरोहितों की इस बात में दिलचस्पी नहीं होती कि उनके यजमानों की विचारधारा क्या है जबतक वे कर्मकाण्ड संपन्न करते रहते हैं और पुरोहितों को समुचित दान-दक्षिणा देते रहते हैं - यजमान वैशेषिक हो सकते हैं, योग, सांख्य, न्याय या वेदान्त दर्शन के अनुयायी हो सकते हैं । **मीमांसा वेदान्तियों अथवा अन्य रहस्यवादियों के विपरीत जगत को मिथ्या या कोई रहस्य नहीं मानता, बल्कि उसे हमारी इच्छाओं से स्वतंत्र वस्तुगत सच्चाई मानता है । दुनिया वैसी ही है जैसा हमारी स्थूल इन्द्रियों को दिखाई देती है ।** लोग प्रायः सांसारिक फलों की इच्छा से ही कर्मकाण्ड संपन्न करते हैं, इसलिए मीमांसक पुरोहित संसार-विमुख कैसे हो सकते ?

वेद स्वतःप्रमाण है । इसलिए वेद यदि कहता है कि अग्निष्टोम यज्ञ से स्वर्ग प्राप्त होता है तो यज्ञ करानेवाला व्यक्ति अवश्य स्वर्ग जाएगा । इसी तरह, धन-ऐश्वर्य-प्राप्ति, रोग-मुक्ति, विश्व-शान्ति आदि किसी लौकिक इष्ट की कामना के साथ यदि आप उपयुक्त वैदिक मंत्रों और विधियों के साथ यज्ञ/मंत्रजाप संपन्न करते हैं तो फल अवश्य प्राप्त होगा । अगर फल प्राप्त नहीं हुआ तो इसका एकमात्र कारण यह होगा कि मंत्रों के उच्चारण अथवा विधियों में कोई त्रुटि रह गई होगी या उनमें कोई विघ्न उपस्थित हो गया होगा । उन त्रुटियों तथा विघ्नों के निराकरण के लिए भी कर्मकाण्ड है ।

हमारे देश में ऐसी कई दार्शनिक शाखाएँ हैं जो यह मानती हैं कि 'सत्य' हमारे शरीर में अन्तर्विष्ठ है - जो बाहर है, वही शरीर के भीतर भी है[4]; पिण्ड में ब्रह्माण्ड है । एक 'यथार्थ गीता' भी है जिसके अनुसार हमारा शरीर ही कुरुक्षेत्र का मैदान है, महाभारत के विभिन्न पात्र हमारे मन की विभिन्न वृत्तियाँ हैं और हमारे अन्दर महाभारत की लड़ाई अहर्निश चलती रहती है । वेदान्ती भी मानते हैं कि ब्रह्म तो हमारे भीतर है : 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'; 'अहं ब्रह्मास्मि'[5]। इसी तरह मीमांसक भी मानते हैं कि वेद हमारे भीतर

है जिसके प्रति हम प्रायः अनजान रहते हैं, लेकिन औचित्य-अनौचित्य के बोध के रूप में वह हमारे अन्दर हमेशा मौजूद रहता है । इसे नवज्योति इस रूप में व्यक्त करते हैं: **'यदि स्वायत्तता का एक अर्थ शक्ति का स्रोत भी है, तो वह इसी में है कि आपको उचित और अनुचित का सर्वथा अद्वितीय विवेक उपलब्ध है** ।' (पृ. 72)

वैदिक रीति से यदि कर्मकाण्डों की पूरी प्रक्रिया संपन्न की जाये तो उसका फल अवश्य प्राप्त होता है । बहरहाल, कर्म और फल के बीच एक **अन्तराल** है । इस अन्तराल के बीच **अपूर्व** सक्रिय होता है जो फल उत्पन्न करता है । (वैशेषिक दर्शन में इससे मिलता-जुलता पद **अदृष्ट** है ।) यज्ञ-क्रिया अनेक भागों में विभक्त होती है और प्रत्येक भाग के संपन्न होने के बाद आंशिक फल प्राप्त होता है जिसे भाग-अपूर्व कहते हैं । पूरी प्रक्रिया की समाप्ति के बाद ही सम्पूर्ण फल उत्पन्न होता है जिसे समाहार-अपूर्व कहते हैं । [यज्ञ-क्रिया का फल यज्ञ-कर्ता और पुरोहित दोनों को प्राप्त होता है - स्वर्ग प्राप्ति के लिए किये जानेवाले ज्योतिष्टोम यज्ञ में उद्गात्र (उद्गाता पुरोहित) बारह मंत्र (उद्गीत) गाता है । पहले तीन मंत्रों के गायन का फल यजमान को मिलता है (जिसे पवमान कहते हैं), शेष नौ मंत्रों के गायन का फल पुरोहित को मिलता है ।]

मीमांसकों की वेद की इस दुनिया से आबादी की बहुसंख्या बहिष्कृत थी - इस जन्म में द्विजों की 'विधिपूर्वक' सेवा करने के बाद ही उन्हें अगले जन्म में किसी सुधार की उम्मीद थी । 'सो जो यहाँ रमणीय (=अच्छे) आचरणवाले हैं, यह जरूरी है कि वह रमणीय योनि - ब्राह्मण योनि, या क्षत्रिय-योनि, या वैश्य योनि - को प्राप्त हों । और जो बुरे आचारवाले हैं, यह जरूरी है कि वह बुरी योनि - कुत्ता-योनि, सूकर-योनि, या चांडाल-योनि को प्राप्त हों ।'[6]

मीमांसकों के लिए यज्ञ के रूपक में मानवजीवन का प्रत्येक कर्म समाहित है - प्रत्येक कर्म का अपना एक अनुष्ठान है, उसमें विभिन्न तत्वों की बलि दी जाती है, और प्रत्येक क्रिया सही-सही संपन्न करने से अन्त में उसका फल अवश्य प्राप्त होता है । उदाहरण के लिए, एक लौह-कर्मी अथवा काष्ठ-कर्मी के अन्दर धातु अथवा काष्ठ की कोई सामग्री बनाने का ज्ञान अन्तर्निहित है । वैदिक रीति से विधिपूर्वक मंत्रोच्चार कर, अपने उपकरणों को उपयुक्त मंत्रों से अभिमंत्रित कर, जब वह निर्माण करना शुरू करता है तो उसका वह अन्तर्निहित ज्ञान सक्रिय हो जाता है, अपने निर्माण-प्रक्रिया के दौरान वह जरूरी सामग्रियों (धातु, काष्ठ, अपनी श्रमशक्ति आदि) की बलि देता है और अन्त में निर्मित वस्तु (इस्पात, मेज़ आदि) के रूप में फल की प्राप्ति होती है । विलक्षण प्रतिभा के ऐसे कारीगरों के बारे में कहा जाता है कि उसके अन्दर **विश्वकर्मा** का वास है । विश्वकर्मा से यहाँ आशय विश्व का निर्माण करने के (वैदिक) ज्ञान से संपन्न होना है ।

इस तरह हर कर्म की विधि बनी हुई है । अगर वैदिक विधि-विधान के अनुसार भूमि-पूजन कर आप भवन-निर्माण करेंगे तो शान्ति और समृद्धि देनेवाला भवन आपको फल के रूप में प्राप्त होगा । (सी बी आई की आन्तरिक कलह का कारण यह है कि उसके कार्यालय-भवन का निर्माण वैदिक रीति से नहीं हुआ और उसमें वास्तु-दोष है !!) इसी तरह, यदि आप विधिपूर्वक नियत अवधि तक सही उच्चारण के साथ महामृत्युञ्जय अथवा गायत्री मंत्र का जाप करेंगे, नर्मदा स्तोत्र अथवा देवी स्तोत्र का पाठ करेंगे तो इन मंत्रों और पाठों से सम्बन्धित फल आपको अवश्य मिलेगा ।

इस मीमांसा की लम्बी वंशावली[7] है और इस वंशावली से कई शाखाएँ तथा उपशाखाएँ फूटती हैं ।

विचरण में नवज्योति सिंह के विचारों की तुलना मीमांसा की उपर्युक्त प्रस्थापनाओं से कीजिए तो आप पाएँगे कि नवज्योति ऐसी कोई **नई** बात नहीं कहते जो मीमांसा में पहले ही नहीं कही जा चुकी हैं । हाँ, शब्दावली कुछ आधुनिक लग सकती है । थोड़ी-बहुत जानकारी रखनेवाले पुरोहित भी आपको ये सारी बातें बता सकते हैं ।

हिन्दुओं के धार्मिक कर्मकाण्ड और रीति-रिवाज चूँकि वेदों पर आधारित हैं और चूँकि मीमांसा का प्रयोजन सम्बन्धित कर्मों के अनुरूप वेद-मंत्रों तथा विधियों को सुव्यवस्थित करना था, इसलिए हिन्दू समाज में द्विजों के बीच मीमांसक विचारों की व्याप्ति आज भी सहज ही देखी जा सकती है । अद्विज यद्यपि वेद पढ़ने और वैदिक कर्मकाण्डों से बहिष्कृत थे, फिर भी वर्चस्वशाली विचार-प्रणाली होने के कारण मीमांसा का उनके ऊपर भी प्रभाव था (और है) । 'श्रेष्ठ' का अनुकरण करने की प्रवृत्ति के कारण अद्विजों के कर्मकाण्डों तथा रीतिरिवाजों पर मीमांसा की छाप लक्षित की जा सकती है । हमारी दिनचर्या में, हमारे मुहावरों और बोलचाल में मीमांसा की दृश्य-अदृश्य उपस्थिति आसानी से रेखांकित की जा सकती है । जब कोई कहता है कि 'जो लिखा है, वही होगा' तो यह मीमांसा से आया मुहावरा ही है ।

वेद से परे कुछ नहीं है - इसलिए जितनी भी वैज्ञानिक उपलब्धियाँ हैं अथवा होनेवाली हैं, वे सब पहले से ही मौज़ूद हैं । वेद का वह अंश भले ही हमारे लिए लुप्तप्राय हो गया हो, कहीं दूसरी जगह, दूसरे काल में वह अवश्य प्रकट हुआ होगा अथवा उसे किसी ने चुरा लिया होगा । गणेशजी की प्लास्टिक सर्जरी, वेद में वैमानिकी, महाभारत काल में इंटरनेट तथा जेनेटिक्स, दश दिशाओं में एक-साथ प्रहार करनेवाले उन्नत प्रक्षेपास्त्र, सारी सृष्टि का विनाश करने में सक्षम ब्रह्मास्त्र, अतीत तथा वर्तमान में आवागमन (टाइम-ट्रेवेल) आदि जो भी दावे आज शीर्ष 'पीठाधिकारियों' द्वारा किये जा रहे हैं, उनपर गैर-मीमांसक भले ही हँसे, मीमांसकों के लिए सहज 'आस्था' के प्रश्न हैं । 'मीमांसा के साथ घोर अन्याय हुआ, श्रेष्ठता को पूछनेवाला कोई नहीं रहा, हमारी आज की दुर्दशा का यही मूल कारण है ।'

मीमांसा की वैचारिक व्याप्ति : मीमांसा की वैचारिकता का मूल सूत्र इस प्रकार है: नित्य शब्दों की एक संहिता है जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्य की सारी समस्याओं का समाधान है और जिसके लिए कोई ज्ञान अथवा कर्म गुप्त नहीं है । इसी सार्वभौम नित्य शब्द संहिता के कुछ अंश समय-समय पर प्रकट अथवा प्रकाशित होते रहते हैं - ऋषि-मुनि, दार्शनिक, विचारक आदि इन सत्यों के स्रष्टा नहीं, बल्कि द्रष्टा हैं । इस वैचारिक सूत्र के आधार पर यदि आप मानते हैं कि वैशेषिक दर्शन में सभी समस्याओं का समाधान है, 'दुनिया की पूरी व्यवस्था इस दर्शन में बनी हुई है' (पृ. 62), और यह कि 'आधुनिक विज्ञान भी जिस समस्या में फँसी हुई है, उसे वैशेषिक दर्शन के सहारे बाहर निकाला जा सकता है और विज्ञान का उद्धार किया जा सकता है' (पृ. 67) तो आप **वैशेषिक मीमांसक** कहलाएँगे । **आइन्सटीन** अपना समीकरण लिखने के पहले चित्र के रूप में उसे देख लेते थे - वे भी सापेक्षता के सिद्धान्त के स्रष्टा नहीं, द्रष्टा थे और उनके द्वारा प्रकाशित मंत्र है $E = mc^2$ । **एडम स्मिथ** ने बाजार के **अदृश्य हाथ** की बात कही थी । **कार्ल मार्क्स** ने अपने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त के जरिये **उस अदृश्य को दृश्य में ला दिया** । वे भी उस सिद्धान्त के स्रष्टा नहीं, द्रष्टा थे । (प्रसंगवश, गायत्री परिवार ने मार्क्स की दो सौवीं वर्षगांठ पर '**महर्षि मार्क्स**' शीर्षक से एक पुस्तिका भी निकाली है । मज़दूर बस्तियों में इस परिवार के काफ़ी अनुयायी हैं और समय-समय पर उसके अनेक कार्यक्रम भी आयोजित होते रहते हैं । पुस्तिका के कवर पर दाढ़ीवाले मार्क्स की भव्य छवि कैलेंडर आर्ट में बनाये गये भारतीय ऋषि-मुनियों के चित्रों पर भी भारी पड़ती है ।)

प्रोफेसर एस एन दासगुप्त वैशेषिक दर्शन को पुरानी मीमांसा मानते थे ।[8] वैशेषिक का पहला सूत्र है : '**अथातो धर्मं व्यख्यास्यामः**' । बहरहाल, वैशेषिक परमाणु और पदार्थों की दुनिया में इतना खो गये कि धर्म की व्याख्या पीछे छूट गई । भारतीय दर्शन पर लिखनेवाले दूसरे कई विद्वान दासगुप्त के इस मंतव्य से सहमत नहीं हैं । अनेक समानताओं के बावज़ूद वेद की नित्यता तथा स्वतःप्रामाण्यता के प्रश्न पर वैशेषिकों का मत मीमांसकों से भिन्न है ।

इसी प्रकार, यदि आप मानते हैं कि बुद्ध वचन में सारी समस्याओं का समाधान है और उसके लिए कुछ भी गुप्त ज्ञान और कर्म नहीं है तो आप **बौद्ध मीमांसक** कहलाएँगे । (दरअसल, बौद्ध दार्शनिकों द्वारा मीमांसा की आलोचना के ज़वाब में कुछ मीमांसकों का यही कहना था - 'आप वेद को नित्य और स्वतःप्रामाण्य नहीं मानते हैं, लेकिन आप बुद्धवचन को तो नित्य और स्वतःप्रामाण्य मानते ही हैं ।') भले विभिन्न विचार-शाखाओं के प्रवर्तक ऐसा दावा न करें, लेकिन कालक्रम में उनके अनुयायी सम्बन्धित विचार-शाखाओं को एक **सम्प्रदाय** का रूप दे देते हैं । बुद्ध ने अपने अनुयायियों को सख़्त हिदायत दी थी कि वे किसी भी बात को, यहाँ तक कि शास्ता के वचनों को भी बिना जाँचे-परखे, बिना अनुभव और

तर्क की कसौटी पर कसे स्वीकार न करें । उन्होंने **आनन्द** को **आप्प दीपो भव** का उपदेश दिया था । तथापि कालक्रम में बौद्धों के भी कई सम्प्रदाय बन गये ।

मीमांसा के मूल वैचारिक सूत्र के आधार पर अनेक वैचारिक सम्प्रदाय बन जाते हैं । कोई यहूदी, ईसाई और इस्लामी मीमांसक हो सकता है । न्याय, योग और वेदान्ती मीमांसक भी । अगर आप यह मानते हैं कि मार्क्स की नित्य शब्द संहिता में भूत, वर्तमान और भविष्य की सारी समस्याओं का समाधान है और उसके लिए कोई ज्ञान अथवा कर्म गुप्त नहीं है तो आप मार्क्सवादी मीमांसक हैं । इसी तरह आप आम्बेडकरवादी और लोहियावादी मीमांसक भी हो सकते हैं ।

जहाँ तक कर्मकाण्डों की बात है तो जब वैचारिक मीमांसक सम्प्रदाय बन जाते हैं तब इन सम्प्रदायों के अपने-अपने कर्मकाण्ड भी आ जाते हैं । आगे चलकर इन कर्मकाण्डों को लेकर बारीक मतभेद नये-नये उप-सम्प्रदायों के बनने का आधार प्रदान करते हैं । अपने आस-पास वैचारिक सम्प्रदायों पर नज़र डालते ही आप इसका साक्षात् कर सकते हैं ।

जिस तरह कोई रोग होने पर डाक्टर उचित दवा लेने की हिदायत देते हैं, सर्जन जरूरी सर्जरी का उपाय बताते हैं, न्यूट्रीशनिस्ट आपको खान-पान से सम्बन्धित डाइट-चार्ट थमा देते हैं, वास्तुशास्त्री वास्तुदोष का समाधान सुझाते हैं, रत्न-विशेषज्ञ आपको पुख़राज या मूँगा धारण करने की सलाह देते हैं, उसी तरह मीमांसक पुरोहित के पास भी आपकी **सभी** समस्याओं - रोगनिवारण से लेकर आतंकवाद से मुक्ति तक - के समाधान के लिए समुचित यज्ञ-अनुष्ठान और मंत्रजाप का विधान है । करोड़ों लोग इसी विधि से अपनी समस्याओं का 'निराकरण' करते हैं (अथवा एक साथ कई विधियाँ आज़माते देखे जा सकते हैं) - विशेषज्ञ पंचसितारा पुरोहितों की दक्षिणा पंचसितारा निजी अस्पतालों के विशेषज्ञ डाक्टरों की फ़ीस से कम नहीं होती ।

'पश्चिम' को कोसनेवाले मीमांसक पश्चिम में अपने बाजार का विस्तार करने को सबसे ज्यादा लालायित रहते हैं । वहाँ मिली अपनी प्रशंसा का इश्तेहार वे ऑलम्पिक तमगे की तरह प्रदर्शित करते मिलेंगे । अमेरिका के पिछले राष्ट्रपति चुनाव में एक उम्मीदवार ने ज़रा मुस्कुराकर 'हिन्दू', 'हिन्दू' क्या कह दिया, यहाँ कुछ मीमांसकों ने उनकी जीत के लिए यज्ञ का अनुष्ठान कर डाला और उन्हें विजयश्री दिलाकर ही दम लिया । अमेरिका के डेमोक्रेट्स **ट्रम्प** की जीत के लिए नाहक **पुतिन** के पीछे पड़े हैं! ट्रम्प की जीत नित्य, सार्वभौम, **अपूर्व** वेद-शक्ति का जीता-जागता प्रमाण है!!

इसी तरह इन पंक्तियों के लिखे जाने के समय भारत के गांवों, शहरों, महानगरों में हजारों स्थानों पर महिलाएँ कलश-यात्राएँ कर रही होंगी, तम्बू गाड़े जा रहे होंगे, यज्ञ-वेदियों के लिए गिन-गिन कर पवित्र ईंटें रखी जा रही होंगी, मुख्य पुरोहित के साथ सहयोगी तथा प्रशिक्षु पुरोहितों का दल यज्ञ की तैयारियों

का ज़ायज़ा ले रहा होगा, यज्ञ-सामग्रियों की आपूर्ति करनेवाले व्यवसायी, बिजली की सज़ावट करनेवाले .. सभी अपने-अपने कार्यों में व्यस्त होंगे । मंत्रियों, सांसदों, विधायकों, नौकरशाहों के दौरे हो रहे होंगे । मई 2014 के बाद ऐसे आयोजनों की वृद्धि दर जीडीपी की वृद्धि दर से कई गुणा ज़्यादा है । वित्त मंत्रालय रोज़गार के आँकड़े देते समय शायद इन आयोजनों में रोज़गार-सृजन के आँकड़े देना भूल गया, अन्यथा दो करोड़ रोज़गार देने के आँकड़े के क़रीब पहुँच जा सकता था!

5. अन्धं तमः ..

मीमांसा की आलोचना के लिए युरोप जाने की जरूरत नहीं है । हमारी दार्शनिक परम्परा में ही इसकी विस्तृत आलोचना उपलब्ध है । मीमांसा एक नित्यतावादी दर्शन है - एक नित्य, अविकारी शब्द-सत्ता (प्रकाशित अथवा अप्रकाशित) है जिससे सारा संसार संचालित है । हमारा काम सिर्फ़ प्रकाशित शब्दों का विधिपूर्वक पालन करना है और अप्रकाशित (अदृष्ट) को प्रकाशित करना (दृश्य में लाना) है । यह अप्रकाशित (अदृष्ट) भी कभी कहीं प्रकाशित था - बस किसी कारण अब अप्राप्य हो गया । जो प्रकाशित है, उसका विधिपूर्वक अनुगमन करने से ही अदृष्ट को दृश्य में लाने का मार्ग प्रशस्त होगा । [अपने पूर्व जन्म में वैदिक रीति से विधिपूर्वक जीवन बिताने के कारण अगले जन्म में प्रजापति को 'हिरण्यगर्भ' (अव्यक्त) और 'विराट्/विराज' (व्यक्त सृष्टि) होने का अवसर प्राप्त हुआ । मूल बात है वैदिक विधि-विधान के अनुसार जीवन जीना - इसी पर यह निर्भर करता है कि हम अगले जन्म में किस योनि में जन्म लेंगे ।]

नित्य एक **निष्क्रिय** श्रेणी है (सांख्य के पुरुष की तरह) । वह किसी के साथ कोई क्रिया नहीं करती - क्रिया करने से ही उसमें विकार उत्पन्न होगा और वह नित्य नहीं रहेगी । इस प्रकार, नित्य एक निष्क्रिय, अपरिवर्तनीय, अन्तःक्रिया में असमर्थ, गतिहीन, जड़ श्रेणी है । यह मानवीय उद्यमिता का, किसी भी प्रकार के नवप्रवर्तन का, नवोन्मेष का अस्वीकार है । वैशेषिक दर्शन में भी विशेष, समवाय आदि नित्य श्रेणियाँ हैं । यह भारतीय समाज की अन्दरूनी जड़ता का, जातीय सोपान पर आधारित गतिरुद्ध समाज-व्यवस्था का, उसकी **अन्दरूनी अन्धकारमयता का वैचारिक आधार** है ।

एक निष्क्रिय श्रेणी होने के कारण मीमांसा बाहय अन्धकारमयता के साथ भी किसी क्रियात्मक सम्बन्ध में जाने में असमर्थ है । फलतः मीमांसा के वर्चस्ववाला समाज बाहय अन्धकारमयता का प्रतिरोध करने की स्थिति में तो नहीं ही होता, उल्टे वह उसका निष्क्रिय उपभोक्ता बनकर उसकी व्याप्ति का आधार बन जाता है । **अपनी नित्य शब्द-सत्ता के खोल में सिमटे, 'विश्व-गुरु' होने के आत्म-मुग्ध ख़यालों में खोये मीमांसकों के लिए कोई भी चीज उसके बाहर हो ही नहीं सकती - जो चीज बाहर से आ रही है, वह तो वही चीज है जो यहाँ लुप्त हो गई थी, कहीं दूसरी जगह प्रकाशित हुई अथवा चुरा ली गई, और वही**

अपना प्रकाश वापस हमें उपलब्ध हो रहा है । यह अन्धकार नहीं, लुप्त प्रकाश का पुनरागमन है । मीमांसकों के लिए यह '**नूतनत्व में नित्यता का आभास है**' (पृ. 73) । इस तरह, वैशेषिक शब्दावली में कहें तो मीमांसा और आधुनिकता की वर्चस्वशाली धारा (अन्धकारमयता) के बीच **आधार-आधेय का सम्बन्ध** बनता है ।

यहाँ यह स्पष्ट देना जरूरी है कि मीमांसकों के 'देखने' और अन्य दार्शनिकों/आध्यात्मिक संतों के 'देखने' में **गुणात्मक फ़र्क** है । मीमांसकों का 'देखना' (जैसाकि हम पहले बता चुके हैं) नित्य को 'देखना' है, जबकि अन्य दार्शनिकों/आध्यात्मिक संतों का 'देखना' एक निजी अनुभव है जो अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग रूपों में घटित होता है - यह **सार्विक एकत्व** की अनुभूति है जो **अनासक्त ज्ञान** का आधार है, जो **विभिन्न अस्तित्व-रूपों को उनकी उत्पत्ति, उनके विकास और उनके संहार/अवसान में 'देखना'** है । बुद्ध भी ज्ञान को 'देखते' हैं - लेकिन यह 'देखना' अनित्यता को, **प्रतीत्य-समुत्पाद** को देखना है । इसी तरह **कबीर** भी '**लोचन अनन्त उघाड़िया**' की बात करते हैं । **यह 'देखना' सम्प्रदायों की बन्द, अन्तर्विष्ठ, नित्य दुनिया का निषेध है ।**

मीमांसा की नित्य दुनिया **आस्था** की मांग करती है, और आस्था दार्शनिक विमर्श की गुंजाइश नहीं छोड़ती है । आस्था का आधार-वाक्य है '**मानना होगा**' ।

दार्शनिक विमर्श की बुनियाद है **संशय**, ज्ञानोन्मुख संशय, और संशय का आधार-वाक्य है '**जानना होगा**' । बहुत कुछ जान लेने के बाद भी यह संशय बरकरार रहता है: वेद यदि वा न वेद? कौन जानता है?

आस्था मौके-बेमौके आहत होती है, और 'मानना होगा' का अन्त सड़कों पर हिंसा और रक्तपात में होता है । संशय साहस की अपेक्षा करता है, अनजान लोकों में विचरणे का साहस । 'जानना होगा' सार्थक, सृजनात्मक विमर्श की ओर ले जाता है ।

हमारी परम्परा में मीमांसा की विचारधारा और कर्मकाण्ड की आलोचना की सशक्त उपस्थिति रही है । मीमांसा-दृष्टि वेद-आधारित होने का दावा तो करती है, लेकिन सारतः वह **ऋग्वेद** के दशम मण्डल के नासदीय सूक्त[9] में व्यक्त **संशयात्मक दृष्टि का निषेध** है । (कोई आश्चर्य नहीं कि विधि-वाक्यों को छोड़कर शेष वैदिक संहिता को मीमांसक अर्थवाद कहकर ख़ारिज कर देते हैं ।)

वेदान्त में यूँ तो कर्मकाण्ड का विरोध नहीं है, लेकिन कर्मकाण्ड के स्थान पर **ब्रहमज्ञान** को वरीयता दी गई है । बादरायण का '**वेदान्त-सूत्र**' (ब्रहम-सूत्र) '**अथातो ब्रहम-जिज्ञासा**' से आरम्भ होता है और उसका उद्देश्य ब्रहम से सम्बन्धित शंकाओं का समाधान करना है । वेदान्तियों के अनुसार ब्रहमज्ञान के बिना किये गये कर्मकाण्ड का फल अस्थायी होता है और उससे 'मुक्ति' की आशा करना व्यर्थ है । जो 'अहं

ब्रह्मास्मि' पर ध्यान करता है, वह ब्रह्म हो जाता है, देवता भी उसे ऐसा होने से नहीं रोक सकते । ब्रह्मज्ञानियों की पैठ देवताओं की आत्मा तक हो जाती है । इसलिए देवता भी नहीं चाहते कि मनुष्य ब्रह्मज्ञान (आत्मज्ञान) हासिल करे ।[10] कुछ उपनिषद् में कर्मकाण्डों की खिल्ली भी उड़ाई गई है । बृहदारण्यक उपनिषद् में कर्मकाण्डों की उपासना करनेवालों और उसीमें ध्यान लगानेवालों के लिए देखिये कितनी कड़ी टिप्पणी की गई है:

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ।। (4.4.10)[11]

लोकायत/चार्वाक मत में तो मीमांसकों और उनके कर्मकाण्डों की धज्जियाँ उड़ाकर रख दी गईं । **सर्वदर्शन-संग्रह** में चार्वाक दर्शन के मतों को उद्धृत करते हुए लिख गया है :

'न स्वर्ग है, न अपवर्ग, न परलोक में जानेवाली आत्मा । वर्ण और आश्रम आदि की (सारी) क्रियाएँ निष्फल हैं । अग्निहोत्र, तीनो वेद .. बुद्धि और पौरुष से हीन लोगों की जीविका है । .. यदि ज्योतिष्टोम (यज्ञ) में मारा पशु स्वर्ग जायेगा तो उसके लिए यजमान अपने बाप को क्यों नहीं मारता । .. मृतक श्राद्ध आदि को ब्राह्मणों ने जीविकोपाय बनाया है । .. सुख-दुख से संयुक्त होने के कारण विषय का संसर्ग त्याज्य है, यह मूर्खों का विचार है । कौन हितार्थी है जो सफेद बढ़िया चावलवाले धान को भूसी से लिपटी होने के कारण छोड़ देगा ।'[12]

बहरहाल, नित्य शब्दवादी मीमांसकों पर सबसे जबर्दस्त प्रहार अनित्य अनात्मवादी बौद्ध दार्शनिकों ने किया - दोनों खेमों के बीच ईस्वी सन् की प्रथम सहस्राब्दी में क़रीब छः शताब्दियों तक गंभीर वाद-विवाद चलता रहा । यहाँ यह भी याद रखना चाहिए कि इस वाद-विवाद में शामिल प्रमुख बौद्ध दार्शनिक - **दिग्नाग** (425 ई. के आसपास) और **धर्मकीर्त्ति** (600 ई.) का जन्म ब्राह्मण परिवारों में हुआ था और उनका लालन-पालन ब्राह्मण कर्मकाण्डों के बीच ही हुआ था । वे ब्राह्मण शास्त्रों में निष्णात थे और उनका खण्डन कर ही बौद्ध हुए थे ।

तमिल प्रदेश में काञ्ची के पास सिंहवक्र नामक गाँव में जन्मे दिग्नाग अपने ग्रंथ **प्रमाणसमुच्चय** में नित्यता की अवधारणा का खण्डन करते हुए लिखते हैं : '**कारणं विकृतिं गच्छज्जायतऽन्यस्य कारणम् ।**'[13] 'कारण स्वयं विकार को प्राप्त होकर ही दूसरी चीज का कारण हो सकता है ।' नित्य वस्तु में यह बात नहीं हो सकती, अतः जो नित्य पदार्थ हैं, उनसे कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती । बहरहाल, मीमांसकों की एक-एक प्रस्थापना का विस्तार से खण्डन धर्मकीर्त्ति की **प्रमाणवार्त्तिक** में मिलता है । धर्मकीर्त्ति का जन्म भी उत्तर तमिल (चोळ) के तिरुमलै गाँव में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था । यहाँ संक्षेप में उनकी कुछ प्रमुख मान्यताओं की चर्चा की जा सकती है :

'**अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थ सत् ।**' अर्थवाली (सार्थक) क्रिया करने में समर्थ वस्तु ही परमार्थ-सत् है । नित्य में विकार का सर्वथा अभाव होने से क्रिया हो ही नहीं सकती ।

शब्द-प्रमाण/अपौरुषेयता का खण्डन : 'किन्हीं वचनों के सत्य होने हेतु (ज्ञान, अराग, अद्वेष आदि) गुण पुरुष में रहनेवाले हैं, इसलिए जो वचन पुरुष के नहीं हैं, वे सत्य कैसे हो सकते हैं ? अतः जो पौरुषेय है, वही सत्यार्थ हो सकते हैं । शब्द के अर्थ को समझाने का साधन है संकेत और वह संकेत पुरुष के ही आश्रय से रहता है (पौरुषेय है) । इस संकेत के पौरुषेय होने से वचनों के अपौरुषेय होने पर भी उनके झूठे होने का दोष संभव है ।' .. चूँकि वेद-वचनों के कर्ता पुरुष याद नहीं इसलिए वह अनादि/अपौरुषेय हैं - '**ऐसे भी ढीठ बोलनेवाले हैं! धिक्कार है (जगत् में) छाये (इस जड़ता के) अन्धकार को ।**' .. गुरुओं की परम्परा का अन्त न होने से वेद अनादि/अपौरुषेय हैं, तो अन्य कई ग्रंथों के रचयिताओं के बारे में पता नहीं चलता और वे भी गुरु-शिष्य परम्परा से ही चले आ रहे हैं, इसलिए उन्हें भी अनादि/अपौरुषेय मानना होगा । नास्तिकों के वचनों को भी । .. वेद-वचन का यह अर्थ है, यह अर्थ नहीं है, यह वेद के शब्द (ख़ुद) नहीं कहते । शब्द का यह अर्थ तो पुरुष कल्पित करते हैं और वे रागादि-युक्त होते हैं । **उन्हीं रागादि युक्त पुरुषों के बीच जैमिनि वेदार्थ का तत्त्ववेत्ता है! वह एक जैमिनि ही तत्त्ववेत्ता है, दूसरा नहीं, यह भेद क्यों?** .. आप कहते हैं, चूँकि पुरुष स्वयं रागादिवाला है, इसलिए वेद के अर्थ को नहीं जानता, और उसी कारण वह दूसरे पुरुष से भी नहीं जाना जा सकता । बेचारा वेद तो स्वयं अपना अर्थ जतलाता नहीं, फिर वेदार्थ की क्या गति होगी? इस गड़बड़ी से तो 'स्वर्ग चाहनेवाला अग्निहोत्र होम करे' इस श्रुति का अर्थ 'कुत्ते का मांस भक्षण करे' नहीं है इसका क्या प्रमाण है?' .. वेद की एक बात सच होने से सारा वेद सच नहीं : वेद का एक वाक्य है 'अग्निर्हिमस्य भेषजं' (आग सर्दी की दवा है) इसे लेकर मीमासंक कहते हैं - चूँकि यह वाक्य बिल्कुल सत्य (=प्रत्यक्ष सिद्ध) है, उसी तरह 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्ग कामः' (स्वर्ग चाहनेवाला अग्निहोत्र होम करे), इस दूसरे वचन को भी उसी वेद का एक अंश होने के कारण प्रमाण मानना चाहिए । इसके उत्तर में - 'यदि इस तरह (एक बात की सच्चाई से) प्रमाण सिद्ध होता, तो फिर यहाँ अ-प्रमाण क्या है? बहुभाषी झूठे पुरुष की एक बात भी सच्ची न हो, यह तो है नहीं । ..'[14] (प्रमाणवार्तिक, 1/333-338)

मीमांसा के बारे में प्रयुक्त '**अन्धं तमः**' की प्रतिध्वनि धर्मकीर्ति के '**जड़ता के अन्धकार**' में सुनी जा सकती है । इन विवरणों की पृष्ठभूमि में यह आसानी से देखा जा सकता है कि नवज्योति भारतीय परम्परा को जब महज मीमांसा तक सीमित कर देते हैं तो वे इस समृद्ध परम्परा के साथ कितना बड़ा अन्याय कर रहे होते हैं ।

नवज्योति छिन्दित पंक्ति (पृ. 64) और सत्तावत् शून्य (पृ. 62) की जब बात करते होते हैं तो पाठकों को लग सकता है कि वे बौद्धों के विच्छिन्न प्रवाह और शून्य की बात तो नहीं कर रहे । बहरहाल, इस शब्दावली का बौद्ध दर्शन से कुछ लेना-देना नहीं है । छिन्दित पंक्ति के सारे घटक **नित्य** हैं और ध्वनियों तथा शब्दों के नित्य सम्बन्धों के बीच **शून्य** एक 'अलगाव भर' है । यह बुद्ध के '**अस्मिन् सति इदं भवति**' ('इसके होने पर यह होता है' : एक के विनाश के बाद दूसरे की उत्पत्ति, प्रतीत्यसमुत्पाद; **मज्झिम निकाय**, 1/4/8) वाला या **ज्ञानश्री** (700 ई.) के '**यत् सत् तत् क्षणिकं**' (जो सत् है, वह क्षणिक है; **क्षणभंग**, 1/1)[15] वाला विच्छिन्न प्रवाह कतई नहीं है । इसके बारे में कुछ चर्चा हम आगे भी करेंगे ।

नवज्योति ग्रीको-युरोपियन परम्परा और भारतीय परम्परा में भेद दिखाने के क्रम में कतिपय प्रवर्गों और अवधारणाओं को पश्चिम के खाते में डालकर निश्चिन्त हो जाते हैं । अपनी परम्परा के जो विचार 'अच्छे' नहीं लगते, उन्हें प्रायः 'पश्चिम' के मत्थे मढ़ कर छुट्टी पा ली जाती है । खासकर गैर-मीमांसक परम्पराओं के कई प्रवर्ग इस मनमाने विभाजन के परिणामस्वरूप पश्चिम के खाते में डाल दिये जाते हैं । **अटूटता** 'आधुनिक मिथक' नहीं, काफ़ी प्राचीन मिथक है और इस पर सिर्फ़ पश्चिम का एकाधिकार नहीं रहा है । युग, युग-चक्र, चतुर्युग, कर्मफल-आधारित जन्म-पुनर्जन्म की अवधारणा, अवतार आदि के जरिये भारतीय परम्परा में अटूटता का एक ढाँचा वास्तविकता पर आरोपित कर दिया गया 'जिसपर आदमी कभी ठीक से बैठ नहीं पाया' । मीमांसा ख़ुद एक अटूट विन्यास है । नित्य, सनातन अटूटता के द्योतक शब्द ही हैं ।

6. विरोधी प्रवर्गों की दुनिया

दार्शनिक विमर्श में पहला कार्य विरोधी प्रवर्गों की पहचान है । यह अपेक्षाकृत सरल कार्य है - हम प्रायः विरोधी प्रवर्गों में बात करने के आदी हैं - हम बनाम वे, मित्र बनाम शत्रु, देवता बनाम असुर, अहिंसा बनाम हिंसा, शासक बनाम शासित, वर्चस्व बनाम वंचना, सफेद बनाम स्याह आदि । दार्शनिक विमर्श का दूसरा कार्य कुछ जटिल है । इस मुकाम पर आकर हम यह देखते हैं कि विरोधी प्रवर्ग किस रूप में एक दूसरे से क्रिया करते हैं । ऐसी कौन-सी विधि है और वह कौन-सा माध्यम है जो इन विरोधी प्रवर्गों की अन्तःक्रिया को, एक-दूसरे में उनके स्थानान्तरण को संभव बनाता है । दार्शनिक विमर्श का महत्वपूर्ण अंश इसी प्रश्न पर केन्द्रित होता है । दार्शनिक विमर्श का तीसरा चरण सबसे विवादास्पद और जटिल चरण है । इस चरण में हम यह देखते हैं कि विरोधी प्रवर्गों के बीच अन्तःक्रिया के जरिये, एक-दूसरे में उनके स्थानान्तरण के परिणामस्वरूप कौन-सी नई श्रेणियाँ अस्तित्व में आईं - इन नई श्रेणियों का चरित्र, उनके उद्भव से उत्पन्न संभावनाओं और चुनौतियों का विवेचन-विश्लेषण और भावी द्वन्द्वों का आकलन-मूल्यांकन, यही हमारे वैचारिक क्रिया-कलापों का प्रमुख सरोकार होता है । इस आधार पर हम किसी कालखण्ड में (उदाहरण के लिए, स्वातंत्र्योत्तर भारत में) समाज, राजनीति, कला-साहित्य आदि क्षेत्रों में होनेवाले परिवर्तनों की व्याख्या कर सकते हैं और इस परिवर्तन-प्रक्रिया में अपने-अपने ढ़ंग से भागीदारी भी निभा सकते हैं ।

विचरण में नवज्योति सिंह अनेक विरोधी प्रवर्गों की शिनाख़्त करते हैं और ख़ुद को इन विरोधी प्रवर्गों में से एक पक्ष के साथ शामिल करते हैं : परम्परा बनाम आधुनिकता, ग्रीको-युरोपियन परम्परा बनाम भारतीय परम्परा, युरोपियन विज्ञान तथा टेक्नोलॉजी बनाम पोट्रियॉटिक (संस्कारनिष्ठ) विज्ञान तथा टेक्नोलॉजी, टोल-आधारित शिक्षा-प्रणाली बनाम आधुनिक कॉलेज-आधारित शिक्षा-प्रणाली, पेशों का नैतिक

(यजमानी) सिद्धान्त बनाम 'पहले अपने लिए करो' का सामी सिद्धान्त, एक अकेले व्यक्ति की श्रेष्ठता प्राप्त करने की सनातनी व्यवस्था बनाम दूसरों को आधार बनाकर श्रेष्ठता हासिल करनेवाली व्यवस्था, शिष्टता बनाम अशिष्टता, इतिहास बनाम हिस्ट्री, रैशनलिटी बनाम व्याकरण, अकर्मक बनाम सकर्मक क्रिया (अस्ति बनाम भवति), आदि, आदि । इन विरोधी प्रवर्गों के बीच वे ख़ुद एक पक्ष हैं - वे ग्रीको-युरोपियन परम्परा के विरुद्ध मीमांसा की भारतीय परम्परा के पक्षधर हैं, और मीमांसा को विधायी शक्ति से सम्पन्न करना चाहते हैं; वे टोल-आधारित शिक्षा-प्रणाली के अवसान से व्यथित हैं; वे पेट्रियॉटिक विज्ञान के हिमायती हैं, यजमानी प्रथा के समर्थक और एक अकेले व्यक्ति की श्रेष्ठता प्राप्त करने की सनातनी व्यवस्था के प्रति आश्वस्त हैं; वे हिस्ट्री के विरुद्ध इतिहास और गाथाओं की महिमा बखानते हैं; व्याकरण को मूल रैशनलिटी मानते हैं; और अकर्मक अस्ति के विरुद्ध सकर्मक भवति का गुणगान करते हैं । ये सारे विरोधी प्रवर्ग नित्य प्रवर्ग हैं ।

यह दार्शनिक विमर्श का पहला चरण है । बहरहाल, वे इसी चरण में अटक कर रह जाते हैं । वे विमर्श के दूसरे और तीसरे चरण में उतरने से बचते दिखते हैं - उन्हें इन चरणों का आभास है, कहीं-कहीं इस दिशा में वे प्रयास करते भी हैं, लेकिन उनकी मीमांसक दृष्टि उन्हें समग्रता में ऐसे किसी गंभीर प्रयास से रोक देती है । जैसाकि हम पहले मीमांसा की परम्परा पर चर्चा के दौरान ज़िक्र कर चुके हैं, नित्य शब्दों और प्रवर्गों की मीमांसक दुनिया अनित्य, चंचल प्रवर्गों की अन्तःक्रिया के किसी विमर्श में गहराई से जाने में सर्वथा असमर्थ है - वह ऐसे विमर्श को अर्थवाद कहकर ख़ारिज़ करती रही है । साक्ष्यों और लिखित से उसका बैर काफ़ी पुराना है ।

बहरहाल, भारतीय विचार-परम्परा में, हर क्षेत्र में, विमर्श के तीनों चरणों की भव्य उपस्थिति देखी जा सकती है । (हमारी परम्परा में मौज़ूद) विरोधी प्रवर्गों की अन्तःक्रिया और एक-दूसरे में उनके स्थानान्तरण के माध्यमों और उनकी विधियों के कुछ उदाहरण यहाँ रखे जा सकते हैं : ओंकार (प्रणव) में अ (अनन्त) और म (सान्त) की अन्तःक्रिया का माध्यम मध्य स्वर **उ** है; साधना में वह **मौन**[16] है; आसनों में वह **शवासन** है; श्वास और प्रश्वास के बीच वह **अन्तर्कुम्भक** तथा **बहिर्कुम्भक** है; इड़ा और पिंगला के बीच वह **सुषम्ना** है; मनोविज्ञान में जाग्रत और सुषुप्ति के बीच वह **स्वप्न** है; उच्चारण में वह **सम**[17] है; छंदों में वह **लय**[18] है; विभिन्न पंथों के बीच विवाद में वह **अध्यात्म**[19] है; वाद और विवाद के बीच वह **संवाद** है; गणतांत्रिक लोकतंत्र में विभिन्न सामाजिक समूहों तथा वर्गों के बीच विवाद में वह **संविधान** है; विज्ञान की सभी शाखाओं में ऐसे माध्यमों तथा विधियों के ढेरों उदाहरण दिये जा सकते हैं .. । समाज-राजनीति से लेकर कला-साहित्य और धर्मों तक विरोधी प्रवर्गों की इन अन्तःक्रियाओं से क्या नई स्थितियाँ बनती हैं, कौन-सी नई शक्तियाँ सामने आती हैं और वह जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में क्या-क्या परिवर्तन लाती हैं, इसके विस्तार में हम यहाँ नहीं जा सकते । लेकिन पिछले दो सौ वर्षों के दौरान

परम्परा और आधुनिकता की परस्पर अन्तःक्रिया के कारण हमारे सामाजिक-राजनीतिक जीवन में, आर्थिक क्रियाकलापों में, कला-साहित्य के क्षेत्र में, जीवन-मूल्यों और धार्मिक आचरणों में क्या-क्या परिवर्तन हुए, उसे आप आस-पास नज़र दौरा कर महसूस कर सकते हैं । कला-साहित्य के क्षेत्र में चले आन्दोलनों और उनमें उभरी नई-नई प्रवृत्तियों में उसका साक्षात् कर सकते हैं । न्यायालयों के फ़ैसलों में भी आप उसकी उपस्थिति देख सकते हैं । पिछले सात-आठ दशकों में परस्पर विरोधी सामाजिक शक्तियों तथा राजनीतिक दलों के टूटने-बनने, नये-नये समूहों-दलों के उभरने और बदलते सामाजिक-राजनीतिक विमर्शों में उसे लक्षित कर सकते हैं ।

इस विषय की कुछ और चर्चा हम व्याकरण वाले संदर्भ में करेंगे । लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि सारे विरोधी प्रवर्ग अनित्य, चंचल श्रेणियाँ हैं और उनके बीच अन्तःक्रिया तथा नई-नई श्रेणियों का उत्थान-अवसान एक निरंतर चलनेवाली क्रिया है और यही क्रिया सामाजिक गतिशीलता कहलाती है । अगर आप विचार अथवा वस्तु के किसी एक रूप पर ठहर जाते हैं या उसके बंदी हो जाते हैं तो फिर आप एक जड़ श्रेणी के रूप में इस गतिशीलता के मार्ग में अवरोधक बन जाते हैं । नित्य शब्दवादी मीमांसा के साथ यही बात है ।

नवज्योति सिंह जिन विरोधी प्रवर्गों की चर्चा करते हैं उन पर विस्तार में जाना संभव नहीं । फिर भी कुछ संक्षिप्त टिप्पणियाँ यहाँ अपेक्षित हैं ।

क. ग्रीको-युरोपियन परम्परा और भारतीय परम्परा: प्राचीन काल में इन दोनों परम्पराओं का मिलन-स्थल **गंधार** था । नवज्योति लिखते हैं, 'गंधार को समझने से ही भविष्य की गुत्थी सुलझेगी ।' (पृ. 42) वे गंधार को समझने के लिए नाटक करने की बात करते हैं क्योंकि 'नाटक में वास्तविकता से अधिक वास्तविकता हुआ करती है ।' (पृ. 11) बहरहाल, गंधार को समझने के लिए मीमांसा से नहीं, बौद्ध दार्शनिकों से मदद मिलेगी - **क़रीब पाँच सौ वर्षों तक** भारतीय और ग्रीक विचार-प्रणालियों के समागम में बौद्ध दार्शनिकों के अतुलनीय योगदान को भला कौन भुला सकता है ? इन दोनों परम्पराओं की अन्तःक्रिया ने भारतीय विचार-परम्परा को समृद्ध करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । इसने विज्ञान और कला-संस्कृति के क्षेत्र में नयी-नयी अवधारणाओं का भी मार्ग प्रशस्त किया । जरा इन तथ्यों पर ग़ौर फ़रमाइए । बौद्ध दार्शनिक नागसेन का जन्म क़रीब 150 ई. पू. भारतीय तथा यूनानी साम्राज्यों के प्रमुख मिलन-स्थल **स्यालकोट** में हुआ । मिलिन्द-नागसेन संवाद हमारी वैचारिक विरासत का महत्वपूर्ण अंग है । महान बौद्ध दार्शनिक, कवि और नाटककार **अश्वघोष** का कर्मक्षेत्र इसी अंचल में **पेशावर** था । क़रीब 50 ई. पू. यूनानी नाटकों की भाँति भारतीय नाटकों की नींव रखने का श्रेय उन्हें ही जाता है - उनके संस्कृत काव्य-नाटक '**बुद्धचरित**', '**सौन्दरानन्द**' और '**सारिपुत्र प्रकरण**' हमारी वैचारिक-सांस्कृतिक परम्परा में मूल्यवान योगदान हैं । ईसा की पहली सदी में **शक सम्राट् कनिष्क** (जिनका साम्राज्य उत्तर

भारत से मध्य एशिया के विशाल भूभाग में फैला था) ने **त्रिपिटक** की व्याख्या के लिए सर्वास्तिवादी (स्थविर) बौद्ध आचार्यों की परिषद बुलाई थी, और उन आचार्यों को चैत्य बनाकर अर्पित किया था। पेशावर में ही 350 ई. के आसपास प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक **असंग** और **वसुबन्धु** का जन्म हुआ था। ब्राह्मण परिवार में जन्मे इन दो भाइयों का बौद्ध विचार-परम्परा में कितना अहम् स्थान है, इसका अंदाज़ा आप इस बात से लगा सकते हैं कि वसुबन्धु एक ओर सुदूर दक्षिण तमिल प्रदेश के बौद्ध दार्शनिक दिग्नाग के गुरु थे, तो दूसरी ओर गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के भी शिक्षक थे। इस लेख के आरम्भ में प्रयुक्त शब्द आलय-परम्परा दरअसल क्षणिक विज्ञानवादी असंग द्वारा प्रयुक्त **आलय-विज्ञान** से ही प्रेरित है - असंग के अनुसार, आलय-विज्ञान वह तरंगित समुद्र है, जिससे तरंगों की भाँति विश्व की सारी जड़-चेतन वस्तुएँ प्रकट और विलीन होती रहती हैं।

कुल मिलाकर, गंधार क्षेत्र में ई. पू. 150 से ईस्वी सन् 350 तक की क़रीब पाँच शताब्दियों के दौरान अत्यन्त समृद्ध बौद्ध वैचारिक-सांस्कृतिक परम्परा को समझे बिना गंधार को समझना नामुमकिन है। कहने की जरूरत नहीं कि ये सभी बौद्ध दार्शनिक, कवि और नाटककार मीमांसक विचारों तथा कर्मकाण्डों के कट्टर विरोधी थे। इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए धर्मकीर्त्ति ने अपनी '**प्रमाणवार्त्तिक**' में जैमिनि की धज्जियाँ उड़ाकर रख दी थी। धर्मकीर्त्ति चोळ प्रदेश से नालंदा आ गये थे और महान दार्शनिक तथा नालंदा विश्वविद्यालय के प्रधान (संघ-स्थविर) **धर्मपाल** के शिष्य बन भिक्षु-संघ में शामिल हो गये थे।

ख. टोल-आधारित बनाम कॉलेज-आधारित शिक्षा प्रणाली : नवज्योति की पसंद टोल-आधारित शिक्षा प्रणाली है। टोलों की बात हो तो स्वभावतः **मिथिला के टोलों** की याद आती है - इन टोलों को भारत में टोल-आधारित शिक्षा प्रथा के (अगर सर्वश्रेष्ठ नहीं तो एक) बेहतरीन नमूने के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। मिथिला के गाँवों में संचालित इन टोलों (या चौपाड़ियों/चतुष्पाठियों) के आधार पर इनकी निम्नलिखित विशेषताएँ चिह्नित की जा सकती हैं :

I. इन टोलों के लगभग सभी-के-सभी छात्र और अध्यापक एक ही जाति - ब्राह्मण जाति के पुरुष थे। मिथिला की 95% से भी अधिक आबादी के लिए इन टोलों के दरवाजे बन्द थे। मीमांसा में शूद्रों का वेद पढ़ना-सुनना निषिद्ध था और इन टोलों में इसका कड़ाई से पालन किया जाता था। शिक्षकों की तीन श्रेणियाँ थीं - उपाध्याय, महोपाध्याय और महामहोपाध्याय। इन टोलों में शिक्षा का माध्यम संस्कृत था।

II. इन टोलों में वेद, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद आदि विषयों की पढ़ाई होती थी। कुछ टोल खास-खास विषयों की पढ़ाई के लिए विख्यात थे और उनमें मिथिला के बाहर के छात्र भी आकर पढ़ते थे। आज भी कुछ गाँवों के नाम इसकी याद दिलाते हैं : रीगा (ऋग्वेद की शिक्षा के लिए), जजुआर (यजुर्वेद की शिक्षा के लिए), अथरी (अथर्ववेद की शिक्षा के लिए), भट्टसिम्मरि एवं भट्टपुर (मीमांसा के

भट्ट मत के लिए), माउबहेट (माध्यनन्दिनी शाखा के लिए), कुथुमा (कौथुमी शाखा के लिए), शकरी (शकारी शाखा के लिए) आदि ।[20]

कुछ टोलों में फलित (ज्योतिष) और गणित सिद्धान्त, दोनों विषयों के ग्रंथ पठन-पाठन में थे । फलित में **रामाचार्य** की **मुहूर्त चिन्तामणि**; **वराहमिहिर** की **लघुजातक, वृहज्जातक**; **नीलकण्ठ** की **नीलकण्ठी; श्रीपति** की **जातक पद्धति;** तथा **केशव** की **केशवी** - इतने ग्रंथ पढ़ाये जाते थे । गणित में **भास्कराचार्य** की **लीलावती** और **बीजगणित**; सिद्धान्त में उन्हीं की **सिद्धान्तशिरोमणि** तथा **सूर्यसिद्धान्त**; **कमलाकर** का **सिद्धान्ततत्वविवेक**; और **गणेश** का **ग्रहलाघव** - इतने पाठ्यग्रंथ थे ।[21]

ब्राह्मणों के लिए हल चलाना, उत्पादक शारीरिक श्रम में भाग लेना निषिद्ध था, समुद्री यात्रा भी । क्या शारीरिक श्रम करना है, क्या नहीं करना है; क्या छूना है, क्या नहीं छूना; इन मामलों में कठोर विधि-विधान थे । इस कारण हाथ से किये जानेवाले श्रम और प्रयोगों के अवसर अत्यन्त सीमित थे । फलित और गणित सिद्धान्त के अलावा प्रायोगिक विज्ञान-तकनीक का अवसर इन टोलों में उपलब्ध नहीं था । (वैसे, ऋग्वेद, 10/60/12 में हाथ के श्रम की महिमा का बखान करते हुए इसे भगवान से भी श्रेष्ठ बताया गया है । हाथ समस्त रोगों की औषधि है; यह जिसका भी स्पर्श कर देता है, वह शिव हो जाता है: 'अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः । अयं मे विश्व भेष्जोऽयं शिवामि मर्शनः ।।' लेकिन मीमांसकों के लिए यह अर्थवाद है । जिस हाथ के स्पर्श से सबकुछ शिव हो जाता है, उसी हाथ को अस्पृश्य बना दिया गया ।)

छात्रों का प्रमुख काम पाठ्य-पुस्तक के रूप में अनुशंसित ग्रंथों का अध्ययन करना, उनको कण्ठस्थ करना, शिक्षकों की देखरेख में पाण्डुलिपियों की नकल उतारना, उन पर टीकाएँ लिखना आदि था । इन टोलों में छः ब्राह्मण दर्शन के अलावा गैर-वैदिक विचार-परम्पराओं (खासकर बौद्ध दार्शनिक ग्रंथों) के पठन-पाठन की कोई व्यवस्था नहीं थी (या कह सकते हैं, उनका पठन-पाठन निषिद्ध था) । मीमांसा में विचार, विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में मौलिक शोध-अनुसंधान की गुंजाइश नहीं रहती ।

III. इन टोलों का आर्थिक ख़र्च राजा, जमींदार आदि जमीन या गाँव दान कर उठाते थे । जमीन से प्राप्त राजस्व से इन टोलों का संचालन होता था । मिथिला में इन टोलों के सबसे बड़े प्रायोजक दरभंगा महाराज थे । आचार्यों तथा मेधावी छात्रों को भी जमीन दान में दी जाती थी । इसी तरह अनेक ब्राह्मण पुरोहित और पण्डित समृद्ध भूस्वामियों में बदल गये । **राजा प्रताप सिंह** (1760-75) ने (स्मार्ता धर्मज्ञ तर्क मीमांशा वेदान्तालङ्कार) पंडित भवानीनाथ शर्मा को टोल चलाने के लिए आलापुर परगना का जगतपुर गाँव ही दान में दे दिया था । इसी तरह के और भी कई उदाहरण हैं ।

मिथिला की कृषि-व्यवस्था वहिया-प्रथा (भूदास/बँधुआ प्रथा) पर आधारित थी । दरभंगा राज के हाथ जहाँ ब्राह्मण पंडितों/पुरोहितों/मंदिरों को गाँव/भूमि दान के लिए खुले थे, वहीं शूद्र वहिया के लिए न सिर्फ़ बन्द थे, बल्कि उनके द्वारा किसी भी दावे की स्थिति में हिंसात्मक प्रहार के लिए तत्पर रहते थे ।[22]

IV. परीक्षा-प्रणाली: मिथिला में तीन तरह की परीक्षा-प्रणाली का विवरण मिलता है । **धौत परीक्षा** - इस परीक्षा-प्रणाली को शुरू करने का श्रेय खंडवला वंश (दरभंगा राज) के संस्थापक **महेश ठाकुर** को जाता है (संभवतः 1570 के दशक में) । इसमें महाराजा और उनकी विद्वत्मण्डली के समक्ष पंडितों को शास्त्रार्थ में भाग लेना होता था । इस शास्त्रार्थ में सफल पंडितों को एक जोड़ी धोती दी जाती थी - नैयायिकों को **लाल**, और वैदिकों, वैयाकरणों तथा अन्य को **पीली** धोती । इस परीक्षा में मिथिला के बाहर के पण्डित भी भाग लेते थे । बीसवीं सदी में **डॉ. गंगानाथ झा** की देखरेख में धौत-परीक्षा का एक पाठ्यक्रम (सिलेबस) भी प्रकाशित किया गया । धौत-परीक्षोतीर्ण एक सम्मानित डिग्री मानी जाती थी । (ऐसा कहा जाता है कि विद्वानों के अलावा, चोरों के लिए भी परीक्षा होती थी । चौर्य-कला की सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक परीक्षा में उत्तीर्ण चोर को **काली** धोती दी जाती थी । वैसे कई विद्वान इस तथ्य की पुष्टि नहीं करते ।)[23] **शलाका परीक्षा** - पाण्डुलिपि के पृष्ठों में विद्यार्थी (आजकल के बुकमार्क की तरह) सुई (शलाका) घोंप कर रखते थे । इस परीक्षा में इन पृष्ठों में से किसी भी विषय पर कहीं से शास्त्रार्थ शुरू की जाती थी । इसमें परीक्षार्थियों को पाण्डुलिपि अथवा पुस्तक साथ में रखने की छूट दी जाती थी । शास्त्रार्थ में सफल छात्रों को स्नातकत्व का प्रमाण-पत्र दिया जाता था । **षड्यन्त्र** - इस परीक्षा-प्रणाली में छात्रों को जनता के बीच अपनी विद्वता का प्रदर्शन करना पड़ता था, और उनके प्रश्नों का ज़वाब देना पड़ता था ।[23]

मिथिला की परम्परा में ऐसा माना जाता है कि **रघुनाथ शिरोमणि** मिथिला-विजय की आकांक्षा लेकर मिथिला आये थे, लेकिन यहाँ **पक्षधर मिश्र** के शिष्यों से हारकर तृतीय श्रेणी के छात्र के रूप में पक्षधर से पढ़ने लगे । (**नव्य-न्याय** के केन्द्र के रूप में मिथिला की ख्याति तब तक पूरे भारतवर्ष में फैल चुकी थी और विभिन्न अंचलों से छात्र विद्याध्ययन के लिए मिथिला आने लगे थे । न्याय तथा वैशेषिक के मेल से नव्य-न्याय की सैद्धान्तिकी का विकास तो 1000 ई. के आसपास **उदयनाचार्य** से ही हो गया था, लेकिन उसे दार्शनिक विमर्श के केन्द्र में लाने का श्रेय जाता है 1200 ई. के आसपास **गंगेश उपाध्याय** और उनकी रचना **तत्त्वचिंतामणि** को । दो सौ वर्षों के भीतर ही उसकी गूँज विजयनगर साम्राज्य में भी सुनाई देने लगी । नव्य न्याय के अनुयायी भी मीमांसा की कई प्रस्थापनाओं के आलोचक थे, यद्यपि यहाँ हम उस पर चर्चा नहीं करेंगे ।) पक्षधर का असली नाम **जयदेव** था, और शास्त्रार्थों में हारते हुए पक्ष का साथ देकर उन्हें जितानेवाले के रूप में उनकी ख्याति के कारण उन्हें पक्षधर कहा जाने लगा । उनका एक नाम **पीयूष वर्ष** भी था, और वे **विद्यापति** के समकालीन थे । कुछ ही दिनों में रघुनाथ ने

पक्षधर के शिष्य के रूप में अपनी प्रतिभा का, अपनी विद्वता का झण्डा गाड़ दिया । यहीं से उन्होंने बंगदेश (नदिया) जाकर **नव्य-न्याय** का प्रचार किया और न्याय शिरोमणि के रूप में प्रतिष्ठा हासिल की । मिथिला में रघुनाथ शिरोमणि के और भी किस्से हैं, लेकिन उन्हें यहाँ देना ज़रूरी नहीं । (संभवतः कुछ बंगाली बुद्धिजीवी इन विवरणों पर आपत्ति दर्ज़ कर सकते हैं । मिथिला और बंगाल के बुद्धिजीवियों के बीच ऐसे कुछ विषयों पर मतान्तर रहा है । मिथिला के कई बुद्धिजीवी **डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी** के कतिपय निष्कर्षों से इत्तेफ़ाक नहीं रखते ।)[24]

V. इन टोलों से शिक्षित ब्राह्मण स्नातक राजाओं/जमींदारों के पुरोहित, ज्योतिषी, अध्यापक, वैद्य, मंत्री के रूप में अथवा अन्य प्रशासनिक/शैक्षणिक सेवाओं में नियुक्ति पाते थे । मिथिला के ब्राह्मण स्नातकों की देश के विभिन्न रजवाड़ों में अच्छी मांग थी । इन मैथिल पण्डितों का कुछ विवरण इस प्रकार है - महेश ठाकुर के ज्येष्ठ भ्राता दामोदर ठाकुर गढ़ मंडला के राजा संग्राम शाह के पुरोहित थे । सचल मिश्र के नाम से लोकप्रिय महामहोपाध्याय भवानीनाथ पुणे में पेशवा माधवराव नारायण के दरबारी थे - पेशवा ने जबलपुर जिले के दो गाँव उन्हें दान में दिया था । नागपुर के भोंसलाओं के प्रधानमंत्री देवजी पुरुषोत्तम कृष्णदत्त मैथिल के संरक्षक थे । कविराज भानुदत्त मध्य भारत के कई राजाओं के दरबार में रहे और उन्होंने गढ़ मंडला के राजा संग्राम शाह, बांधवगढ़ (रेवा राज की राजधानी) के वघेला राजकुमार वीरभान, अहमदनगर के राजा निज़ाम शाह, और राजा शेरशाह की विरुदावली लिखी थी । गोविन्द ठाकुर बंगाल के कृष्णनगर राज के संस्थापक भवानंद राय के दरबारी थे, गंगानन्द बीकानेर के राजा कर्ण, और गोकुलनाथ उपाध्याय गढ़वाल के राजा फ़तेह शाही के दरबारी थे ।[25]

VI. 1835 में लार्ड बेंटिक ने अँग्रेजी शिक्षा के प्रसार के अपने महत्वपूर्ण प्रस्ताव की घोषणा की । इस प्रस्ताव के अन्तर्गत आधुनिक एंग्लो-वर्नाकुलर स्कूल-कॉलेज़ों की स्थापना की जानी थी (इसे ही मेकॉले की शिक्षा-पद्धति के नाम से जाना जाता है) । बिहार में पहला एंग्लो-वर्नाकुलर स्कूल मुजफ्फरपुर में खोला गया । इसके लिए कुल बारह हजार रुपये जुटाये गये - इन बारह हजार रुपयों में सात हजार रुपये दरभंगा राज परिवार ने दान में दिया था (महाराजा रुद्र सिंह ने पाँच हजार और उनके छोटे भाई ने दो हजार रुपये दिये थे) । स्कूल के लिए जरूरी ज़मीन का पट्टा भी दरभंगा महाराज ने दान में दिया था । इसी तरह दरभंगा और मुंगेर में स्कूलों की स्थापना के लिए भी दरभंगा राज परिवार ने धनराशि और ज़मीन दी थी । आगे चलकर आधुनिक शिक्षा-पद्धति के अन्तर्गत स्थापित स्कूलों, कॉलेज़ों और विश्वविद्यालयों को दरभंगा महाराज की ओर से ज़मीन, भवन और धनराशि दी जाती रही । इस प्रकार **टोल-आधारित शिक्षा-प्रणाली और आधुनिक कॉलेज़-आधारित शिक्षा-प्रणाली - दोनों के प्रमुख प्रायोजक दरभंगा महाराज ही थे** । टोलों से निकले कई आचार्य स्कूलों, कॉलेज़ों और विश्वविद्यालयों में संस्कृत के अध्यापकों के रूप में नियुक्त हुए । मुग़ल बादशाहों और सुल्तानों को अपनी विद्वता से प्रभावित कर

पुरस्कार पाने, उनकी विरुदावली रच कर ज़ागीर तथा ज़मीन के पट्टे पाने को लालायित रहनेवाले पण्डित अब रानी विक्टोरिया और अँग्रेज़ लाटों की विरुदावली रचने और उनसे पद, सम्मान, उपाधि प्राप्त करने को तैयार थे ।[26]

मीमांसा मैकाले में अपने लिए नई संभावनाएँ तलाश रही थी । टोल-आधारित शिक्षा-पद्धति मूलतः ब्राह्मणवादी समाज व्यवस्था में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता और वर्चस्व को बनाये रखनेवाली शिक्षा-पद्धति थी । मैकाले की शिक्षा-प्रणाली अँग्रेज़ों के औपनिवेशिक वर्चस्व की ज़रूरतों को पूरा करने के उद्देश्य से संचालित थी । दोनों के अपने अन्तर्सम्बन्ध थे और अपने अन्तर्द्वन्द्व भी ।

टोल-व्यवस्था अत्यन्त संकुचित व्यवस्था थी जिसमें आबादी की विशाल बहुसंख्या का प्रवेश निषिद्ध था, कुछ चुनिन्दा प्राचीन ग्रंथों को रटने और उनपर टीकाएँ लिखने के अतिरिक्त उसमें नव-प्रवर्तन और अनुसंधान की गुंजाइश नहीं थी, जहाँ हाथ और श्रम की कोई मर्यादा नहीं थी । कुछ प्राचीन पाण्डुलिपियों के संरक्षण में उसकी भूमिका तो थी, लेकिन बाद में यह काम भी रॉयल एशिएटिक सोसाइटी तथा आधुनिक अभिलेखागारों ने ले लिया । निरन्तर संकुचित होती इस शिक्षा प्रणाली के लिए अपनी सिमटी-सिकुड़ी दुनिया में साँस लेना भी दूभर हो गया ।

इस बीच नयी सामाजिक शक्तियाँ ज्ञान के क्षेत्र में अपनी दावेदारी के साथ मैदान में उतरने लगी थीं - वे मीमांसा और मैकाले से परे शिक्षा के क्षेत्र में नई पहलकदमी ले रही थीं । वे एक **सार्विक**, **सर्वसुलभ**, **गुणवत्तापूर्ण** शिक्षा प्रणाली की स्थापना के लिए प्रयासरत थीं - ऐसी व्यावहारिक प्रणाली जो हाथ तथा श्रम की मर्यादा पर आधारित हो और जो छात्रों की अभिनव प्रवर्तनकारी सृजनात्मक क्षमता को उन्मुक्त करने में सक्षम हो । पिछले दो सौ वर्षों के दौरान समाज सुधार तथा स्वतंत्रता आन्दोलनों के प्रमुख प्रतिनिधियों की चिंता के केन्द्र में मीमांसा और मैकाले के वर्चस्व के बीच से शिक्षा का कोई तीसरा माध्यम खोजना था । अनेक उतार-चढ़ाव के बीच (संविधान के नीति-निर्देशक सिद्धान्त में दर्ज़) यह सार्विक, सर्वसुलभ, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा आज भी वैचारिक विमर्श का अतिमहत्वपूर्ण विषय बना हुआ है जिसकी झलक आप **प्रतिमान 11** में प्रकाशित परिचर्चा में देख सकते हैं ।

नवज्योति मीमांसा बनाम मैकाले के विरोधी प्रवर्गों में अटक कर रह जाते हैं; उनके बीच अन्तःक्रिया, एक-दूसरे में उनके स्थानान्तरण और नई सामाजिक शक्तियों के उत्थान की प्रक्रिया से अनजान बने रहते हैं ।

ग. पेट्रियॉटिक साइंस बनाम युरोपियन साइंस : नवज्योति मीमांसा का सूत्र थामकर 'आधुनिकता के बैल को उसके सींग से पकड़ने' की बात करते हैं :

‘आधुनिकता के बैल का सबसे सशक्त सींग **विज्ञान** है । उसी से नई-नई टेक्नोलॉजी और नई जीवनशैलियाँ आ रही हैं । **पश्चिम की सबसे सशक्त विधायक शक्ति विज्ञान और टेक्नोलॉजी से आ रही है** । प्रश्न यह है कि विज्ञान, टेक्नोलॉजी और परम्परा का क्या सम्बन्ध बनता है । .. हमने विचार किया कि महत्वपूर्ण काम विज्ञान और टेक्नोलॉजी को घरेलू बनाने का है । इस प्रक्रिया के दो बिन्दु हैं; पहला यह कि ये संस्कारनिष्ठ हों; हमारी परम्परा के जो संस्कार आ रहे हैं; विज्ञान और टेक्नोलॉजी हमारे संस्कारों से बँधे हों । और दूसरा यह कि इससे जुड़ा जो उपनिवेशवादी अभिजात्य है, वह उससे मुक्त हो । वह लोकव्यापी हो । .. इसके लिए हम कुछ लोगों ने एक संस्था बनाई थी पी. पी. एस. टी (पेट्रियॉटिक एण्ड पीपल ओरिएंटेड साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी) । हमारे यहाँ पेट्रियॉटिक का अर्थ राष्ट्र से सम्बद्ध न होकर संस्कारनिष्ठता है । लोकव्यापीकरण का अर्थ है वही ज्ञान उचित है जो लोक में व्यापक हो पाए । (पृ. 21-22) .. इसके साथ ही विज्ञान और टेक्नोलॉजी से जुड़ी अपनी परम्पराओं का एक आधुनिक मंच भी तैयार किया गया: कांग्रेस ऑफ़ ट्रेडीशनल साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी । पहली कांग्रेस मुम्बई आई. आई. टी. में हुई । ऐसी पाँच कांग्रेस अलग-अलग जगहों पर हुई । (पृ. 23) ..’ बहरहाल, ये प्रयास ज़्यादा आगे नहीं बढ़ सके । ‘लोकव्यापी संस्कारनिष्ठ मंच तैयार करने की कहानी यहाँ आकर समाप्त हो गई । लोग थक गये । (पृ. 28) .. इस प्रयोग से मुझे भी कुछ सोचने का अवसर मिला । .. मुझे लगा कि हम परम्परा में विज्ञान और टेक्नोलॉजी क्यों खोज़ रहे हैं, यह एक दोष था । हम यह खोज़ छोड़कर मानव-शास्त्र की ओर आ गये । (पृ. 31)’

‘पेट्रियॉटिज़्म’, जैसाकि सैमुएल ज़ॉन्सन ने कहा था, ‘दुष्टों की अन्तिम शरणस्थली’ हो न हो, पेट्रियॉटिक साइंस नीम-हकीमों की अन्तिम शरणस्थली ज़रूर है । **वह विज्ञान ही क्या जो संस्कारों में सेंधमारी न करे** । युरोप में विज्ञान-टेक्नोलॉजी ने जो स्वायत्तता हासिल की, उसके लिए उसे क़रीब दो शताब्दियों से भी ज़्यादा समय तक संस्कारनिष्ठता में ज़बर्दस्त सेंध लगानी पड़ी, रोमन चर्च के इनक्विज़ीशन का सामना करना पड़ा, उसके अग्रिम प्रतिनिधियों को ज़िंदा जलाया गया, उन्हें निर्वासन और नज़रबंदी की सज़ा भुगतनी पड़ी ।

हाँ, विभिन्न देशों अथवा अंचलों की भौगोलिक स्थिति, उनका भू-परिदृश्य, ज्ञान-विज्ञान का उनका इतिहास, उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक व्यवस्था एक जैसी नहीं होतीं । इसलिए अलग-अगल देशों-अंचलों में विज्ञान-टेक्नोलॉजी का विकास अलग-अलग विशिष्टताओं के साथ उपस्थित होता है जिसे संस्कारनिष्ठ विज्ञान कहने के बजाए देश-काल सापेक्ष विशिष्ट विज्ञान कहना ज़्यादा उपयुक्त होगा । अमेरिकी इसे ‘साइंस टाइप’ कहते हैं ।

कहने की ज़रूरत नहीं कि समुद्र के तटवर्ती क्षेत्रों में जो विज्ञान-तकनीक विकसित होगी, वही रेगिस्तान में रहनेवाले समुदायों के विज्ञान से भिन्न होगी । भूपरिवेष्ठित पहाड़ी अंचलों की विज्ञान-तकनीक समतली इलाकों से अलग होगी । इस प्रकार, अलग-अलग अंचलों में ऐतिहासिक रूप से विकसित विज्ञान-तकनीक की अच्छी समझ विज्ञान-तकनीक-सम्बन्धी नीति निर्धारण और कार्यक्रम-कार्यान्वयन के लिए ज़रूरी शर्त है । भारत जैसे विशाल देश में जहाँ पर्याप्त भौगोलिक विविधता है, अलग-अलग अंचलों

में ऐतिहासिक रूप से विकसित ऐसे विशिष्ट विज्ञान ('साइंस टाइप') के अनेक उदाहरण मिलेंगे । बहरहाल, यहाँ हम समुद्र-तटवर्ती क्षेत्रों में जहाजरानी उद्योगों के विकास, राजस्थान में जल-संरक्षण की विशिष्ट प्रणाली, गंगा-जमुना या कृष्णा-गोदावरी के मैदानों में कृषि-तकनीकों, गारो-खासी-जयंतिया तथा असम की जनजातियों द्वारा विकसित विशिष्ट तकनीकों आदि के ब्यौरों में नहीं जाएँगे । इन सब पर विज्ञान के क्षेत्र में काम करनेवाले अनेक विद्वानों की महत्वपूर्ण रचनाएँ मौज़ूद हैं । कम्प्यूटरों के विकास के बाद इन विशिष्ट तकनीकों का डॉक्युमेंटेशन भी हुआ है ।

यह 'साइंस टाइप' भी कोई रूढ़ श्रेणी नहीं है । विभिन्न अंचलों के बीच आदान-प्रदान चलता रहता है और किसी एक क्षेत्र की कोई ख़ास तकनीक दूसरे क्षेत्र के लिए भी उपयोगी साबित होती है । इतना ही नहीं, बाहर से आई कोई तकनीक अगर उपयोगी लगती है तो परम्परागत कारीगर शुरुआती ना-नुकर के बाद उसे सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं । आसपास देखिए - लगभग सभी कारीगर, धातुकर्मी, काष्ठकर्मी, मिस्त्री, रसोइये आदि अब विद्युत-चालित उपकरणों का इस्तेमाल कर रहे हैं, हालांकि बिज़ली का विज्ञान और तकनीक बाहर से आई है । कम्प्यूटर, नेट के विकास ने साइंस-टाइप-आधारित विभाजनों को काफ़ी हद तक पाट दिया है ।

नवज्योति सिंह और उनके साथियों ने संस्कारनिष्ठ विज्ञान के विकास के लिए जो रास्ता चुना, उसकी विफलता तो शुरुआत से ही लिखी थी । परम्परागत कारीगरों का सम्मेलन आयोजित कर आप 'आधुनिकता की सबसे बड़ी विधायक शक्ति', उसके विज्ञान और उसकी टेक्नोलॉजी से लोहा नहीं ले सकते । इस मामले में कारीगर ज़्यादा चतुर निकले । वे जानते थे कि इन आयोजनों से पश्चिमी विज्ञान-टेक्नोलॉजी का मुक़ाबला नहीं किया जा सकता । इसलिए उन्होंने इन मंचों का इस्तेमाल अपनी सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक मांगों को उठाने के लिए किया, और यहाँ तक कि अपने बाल-बच्चों के ब्याह के लिए भी । परम्परागत रूप से उन्हें शिक्षा से वंचित रखा गया था, इसलिए वे चाहते थे कि उनके बच्चों को प्राथमिक से लेकर उच्चतर स्तर तक गुणवत्तापूर्ण शिक्षा उपलब्ध हो; उनके लोगों का सरकारी नौकरियों में, विधान-सभाओं तथा संसद में उचित प्रतिनिधित्व नहीं है, इसलिए वे इन संस्थाओं में अपनी समुचित भागीदारी सुनिश्चित करना चाहते थे; बुन्देलखण्ड में शामिल लोगों की मुख्य दिलचस्पी पृथक बुन्देलखण्ड प्रदेश के निर्माण में थी, न कि पेट्रियॉटिक साइंस में । इस तरह, पेट्रियॉटिक साइंस की दिशा में आयोजित सम्मेलनों और काँग्रेसों में आरक्षण, भागीदारी, पृथक प्रदेश, रिश्तेदारी जैसे विषय छाये रहे ।

इस प्रकार, कारीगरों ने पेट्रियॉटिक साइंस को साइंस के क्षेत्र से ही बाहर का रास्ता दिखा दिया । मीमांसक दृष्टि ने पश्चिमी विज्ञान से हार मानकर अपने हथियार डाल दिये: पेट्रियॉटिक साइंस की खोज छोड़कर वे मानव-शास्त्र की ओर चले गये ।

घ. पेशों का नैतिक (यजमानी) सिद्धान्त बनाम 'पहले अपने लिए करो' का गांधीजी का सामी सिद्धान्त :

पहले यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि इस प्रसंग में नवज्योति गांधीजी के विचारों को जिस रूप में प्रस्तुत करते हैं, वह उनके विचारों का मनमाना सरलीकरण है । नवज्योति कारीगरों और यजमानों के सम्बन्ध को माँ और बेटे के सम्बन्ध के रूप में प्रस्तुत करते हैं । (पृ. 34) कारीगरों तथा यजमानों का सम्बन्ध बेगार-प्रथा पर आधारित एक ब्राह्मणवादी-सामंती सम्बन्ध था, यह कारीगरों के उत्पीड़न पर आधारित (अनैतिक) सामाजिक सम्बन्ध था, जिसकी जकड़न को तोड़कर हर कारीगर आज़ाद होना (या **रैदास** की शब्दावली में बेगमपुरा जाना) चाहता था । 'अपने लिए करो' का मतलब था मालिक के लिए बेगार मत करो । मीमांसा में बेगार श्रम को एक नैतिक, धार्मिक, कर्मकाण्डीय महिमा प्रदान की गई है । मीमांसा की इस सनातनी दृष्टि का आज भी कोई दार्शनिक इस तरह खुलकर पक्षपोषण कर सकता है, यह ख़ुद आश्चर्य की बात है ।

इसी तरह जाति और दलित-प्रश्न पर नवज्योति के विचार काफ़ी घिसे-पिटे मीमांसक विचार हैं । यहाँ मैं जाति और वर्ण के किसी सैद्धान्तिक बहस में जाना नहीं चाहूँगा । जातियों की गणना और इन जातियों को चतुर्वर्ण की श्रेणियों में समायोजित करने का काम प्राचीन काल से चलता आया है - मिथिला में (13वीं सदी के अन्त अथवा 14वीं सदी के आरम्भ में) **ज्योतिरीश्वर ठाकुर** रचित **वर्णरत्नाकर**[27] में आप यह सूची देख सकते हैं, और उसके पहले धर्मशास्त्रों तथा स्मृति-ग्रंथों में । लेकिन पहले नवज्योति के विचारों पर नज़र डाल लेते हैं :

'पुराने जमाने में कुछ ऐसे लोगों की कल्पना की जाती थी, जो अपने कुकर्मों के कारण अद्विज हो जाते थे, आधुनिक काल में इन्हें ही दलित कहा जाने लगा । अँग्रेजों के झूठे इतिहास में ये अद्विज चिरकाल से सताये गये दलित बन गये हैं और इस तरह जाति प्रथा बन गयी, बिल्कुल स्थिर ठहरी हुई । .. हमारे यहाँ तो पारिवारिक स्मृति सात जन्मों से पहले जाती नहीं है । .. अँग्रेजों की थी । वे अपने को बाहरवीं सदी के नार्मन विजय से जोड़ते हैं ।' (पृ. 79) .. 'इसीलिए उन्होंने भारतीयों के विषय में भी इसी तरह सोचा और दलित और सवर्ण उत्पन्न कर दिये, जो बाद में सचमुच उसी तरह व्यवहार करने लगे । दरअसल, अद्विजों के अपराध की कोई स्मृति नहीं है क्योंकि तीन पीढ़ियों से अधिक की यहाँ पारिवारिक स्मृति नहीं रहती ।' (पृ. 80) .. 'अँग्रेजों की तैयार की गयी जाति प्रथा जनगणना के कारण अस्तित्व में आयी । उन्हें तो दफ़्तरों में बैठकर तैयार किया गया ।' (पृ. 39)

क्या ये विचार किसी गंभीर चर्चा की मांग करते हैं ? अँग्रेजों ने दफ़्तरों में बैठकर दलित और सवर्ण उत्पन्न कर दिया और भारत के लोग सचमुच उसी तरह व्यवहार करने लगे ? क्या भारत के लोगों के प्रति इससे बड़ी कोई अपमानजनक टिप्पणी हो सकती है ? दाद देनी होगी इस दुस्साहस को !

बहरहाल, भारत में ऐसे कई समुदाय हैं जिनका वंश-वृक्ष नार्मन विजय से भी पहले तक जाता है - उन्हें मैथिल ब्राह्मणों के बारे में ही पता कर लेना चाहिए था । इसलिए तथ्यतः उनका तर्क गलत है । इसके अलावा, तीन या सात पीढ़ियों की पारिवारिक स्मृति स्मृति का बस एक आयाम है । किसी भाषा का साहित्य उस समाज की स्मृति का आगार होता है । इसलिए प्राचीन संस्कृत साहित्य में ही कोई वर्ण-जाति व्यवस्था का सहज ही साक्षात् कर सकता है । नवज्योति मनमाने ढंग से तीन पीढ़ी की पारिवारिक स्मृति का हवाला देकर उत्पीड़क वर्ण-जाति व्यवस्था की जिम्मेवारी अँग्रेज़ों पर थोपकर भारतीय समाज में उसकी उपस्थिति को सिरे से ख़ारिज करने का हास्यास्पद प्रयास करते हैं ।

इस बात से कोई इन्कार नहीं करता कि 1871-72 में अँग्रेजों द्वारा शुरू की गई जनगणना ने भारतीय जाति-व्यवस्था में हलचल पैदा की, नई स्थितियों में जातियाँ नये सिरे से संगठित होने लगीं, वंचित शूद्र समुदायों ने अपनी दावेदारी पेश करनी शुरू की, और विभिन्न क्षेत्रों में अपने समकक्ष समूहों के साथ अपना सामाजिक-राजनीतिक सम्बन्ध बनाना शुरू किया । जाति संगठन और आन्दोलन के प्रारम्भिक दौर में जनेऊ आन्दोलन के जरिये अद्विज जातियों ने द्विज होने का दावा ठोका और आगे चलकर दलित तथा पिछड़ा वर्ग के रूप में अपने आन्दोलन को विस्तार दिया । हम यहाँ इन परिघटनाओं की तफ़सील में नहीं जाएँगे । इन विषयों पर काफ़ी कुछ लिखा जा चुका है । हमारा उद्देश्य सिर्फ़ यह दिखाना है कि औपनिवेशिक काल में जातियों की यह गतिशीलता प्राचीन काल से चली आ रही श्रेष्ठ-निम्न के सोपान पर आधारित उत्पीड़क जाति-व्यवस्था से मुक्त होने की छटपटाहट ही थी, कि अँग्रेजों ने यह व्यवस्था नहीं बनाई थी, कि अद्विज-पंचम की श्रेणियाँ ही नई स्थितियों में पिछड़ा-दलित वर्गों के रूप में द्विजों (सवर्णों) के ख़िलाफ़ संगठित हो रही थी और उनके वर्चस्व को चुनौती दे रही थीं । यहाँ भी जातियों के अपने समकक्ष समुदायों के साथ मिलकर अखिल भारतीय संगठन बनाने के संदर्भ में नवज्योति की दृष्टि सिर्फ़ यादवों तक गई । अखिल भारतीय स्तर पर इस तरह संघबद्ध होने में ब्राह्मण और उनकी उपजातियाँ पीछे नहीं थीं । बिहार तथा उत्तरप्रदेश में इस दिशा में पहल कायस्थों ने की थी । गोप सभा तो बाद में बनी थी ।

प्राचीन संस्कृत साहित्य का कोई पृष्ठ पलटिये - आर्य बस्तियों में आपका सामना शूद्रों, चाण्डालों से होगा, उनपर होनेवाले अत्याचारों का लोमहर्षक विवरण मिलेगा, और इन अत्याचारों का अनेक जगहों पर शास्त्रीय-कर्मकाण्डीय महिमामण्डन भी । इन आर्य-बस्तियों से जैसे ही आप बाहर आइएगा, आपकी मुलाकात द्राविड़ों, नागों, निषादों, शबरों, किरातों, भीलों, असुरों आदि से होगा । इसके विस्तार में जाने की ज़रूरत नहीं ।

बहरहाल, यह कोई किताबी बात नहीं है । अगर आप भारत में रहते हैं तो यह रोज़मर्रे के अनुभव की बात है ।

किसी से मिलने पर पहले जाति पूछने को लेकर बेवज़ह बिहारियों को दोष दिया जाता है । राजा दुष्यन्त ने कण्व आश्रम में पहली बार शकुंतला को देखा तो उनके मन में सबसे पहले यही प्रश्न उठा था, 'आखिर यह किस वर्ण की स्त्री है ?' :

'अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसंभवा स्यात् । अथवा कृतं संदेहेन । असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्थमस्यभिलाषि मे मनः । सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ।। तथापि तत्वत एनामुपलप्स्ये ।'[28] (यह ऋषि की कन्या कहीं दूसरे वर्ण की स्त्री से तो उत्पन्न नहीं हुई है । पर संदेह किया ही क्यों जाय क्योंकि - जब मेरा शुद्ध मन भी इस पर रीझ उठा है तब यह निश्चय है कि इसका क्षत्रिय से विवाह हो सकता है । क्योंकि सज्जनों के मन में जिस बात पर शंका हो वहाँ जो कुछ उसका मन कहे वही ठीक मान लेना चाहिए ।। फिर भी मैं इसका ठीक-ठीक पता लगाता हूँ ।

स्वयंवर में द्रौपदी को जीत कर पाण्डव जब जा रहे थे, तब राजा द्रुपद के मन में क्या हलचल मची थी:

'कच्चिन्न शूद्रेण न हीनजेन/ वैश्येन वा करदेनोपपन्ना । कच्चित् पदं मूर्ध्नि न पङ्कदिग्धं/ कच्चिन्न माला पतिता श्मशाने ।। कच्चित् सवर्णप्रवरो मनुष्य/ उद्रिक्तपर्णोप्युत एव कच्चित् । कच्चिन्न वामो मम मूर्ध्नि पादः/ कृष्णाभिमर्शेन कृतोद्य पुत्र ।।'[29] (कहीं किसी शूद्र ने अथवा नीच जाति के पुरुष द्वारा ऊँची जाति की स्त्री से उत्पन्न मनुष्य ने या कर देनेवाले वैश्य ने तो मेरी पुत्री को प्राप्त नहीं कर लिया? और इस प्रकार उन्होंने मेरे सिर पर अपना कीचड़ से सना पाँव तो नहीं रख दिया? माला के समान सुकुमारी और हृदय पर धारण करने योग्य मेरी लाडली पुत्री श्मशान के समान अपवित्र किसी पुरुष के हाथ में तो नहीं पड़ गयी? क्या द्रौपदी को पानेवाला मनुष्य अपने समान वर्ण (क्षत्रिय कुल) का ही कोई श्रेष्ठ पुरुष है? अथवा वह अपने से भी श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल का है? बेटा ! मेरी कृष्णा का स्पर्श कर किसी निम्न वर्णवाले मनुष्य ने आज मेरे मस्तक पर अपना बायाँ पैर तो नहीं रख दिया?)

ऐसे ढेरों उदाहरण संस्कृत साहित्य से दिये जा सकते हैं । वेदव्यास और कालिदास अँग्रेज नहीं थे । इसी तरह गैर-आर्य जनों और उनके प्रति ब्राह्मणवादी सोच तथा व्यवहार के उदाहरण भी भरे-पड़े हैं ।

बहरहाल, ऐसे उदाहरणों की ज़रूरत भी नहीं है । जैसाकि हम ऊपर कह चुके हैं, अगर आप भारत में रहते हैं तो जाति-प्रथा के बारे में, गैर-आर्य जनों के बारे में किताबों से जानने की ज़रूरत ही नहीं है - यह हमारे रोज़मर्रे के जीवन का यथार्थ है ।

अपने नित्य **शब्दलोक** में जीनेवाले मीमांसकों के लिए **यथार्थलोक** प्रायः पराये का षडयंत्रलोक होता है । यथार्थ के षडयंत्र का दमन कर शब्द की सत्ता स्थापित करने का अभियान चलाया जाता है । **यथार्थ शब्द के ख़िलाफ़ षडयंत्र है; शब्द से परे कोई यथार्थ नहीं; शब्द ही मूल यथार्थ है ।** (व्याकरण ही मूल रैशनलिटी है । (पृ. 84) यही मीमांसा की तर्कप्रणाली है ।

ङ. इतिहास बनाम हिस्ट्री : इतिहास और हिस्ट्री की अवधारणाओं और उनके बीच फ़र्क को रेखांकित करते हुए देशी-विदेशी अनेक विद्वानों ने क़ाफी कुछ लिख रखा है । हिन्दी में भी इस विषय पर **विद्यानिवास मिश्र**, **अज्ञेय**, **निर्मल वर्मा** आदि की रचनाओं में विस्तृत चर्चा मिलती है । यहाँ हमारा उद्देश्य इस चर्चा में जाना नहीं है, बल्कि इस विषय पर '**विचरण**' में नवज्योति के विचारों में जो असंगति है, उसे दर्शाना है ।

नवज्योति इतिहास को 'न्याय की स्मृति' और हिस्ट्री को 'अन्याय की स्मृति' के रूप में वर्णित करते हैं (पृ. 58) । इस आधार पर वे **मार्क्स**, **हीगेल** और **रोमिला थापर** (पृ. 59-60) की आलोचना करते हैं तथा तथ्यों और साक्ष्यों के महत्व को सिरे से ख़ारिज़ कर देते हैं । इस सूत्रीकरण के बावज़ूद अपने पूरे साक्षात्कार में वे हिस्ट्री की पद्धति का ही अनुसरण करते हैं । पूरा साक्षात्कार मीमांसा की परम्परा के साथ अन्याय की स्मृति पर ही केन्द्रित है ।

इस तरह न्याय की स्मृति और अन्याय की स्मृति को परस्पर विरोधी प्रवर्ग में रखकर वे निश्चिंत हो जाते हैं और इन प्रवर्गों के बीच की अन्तःक्रिया के विश्लेषण में जाने की कोई कोशिश नहीं करते । दरअसल, **न्याय की स्मृति में अन्याय की विस्मृति भी अन्तर्निहित है और अन्याय की स्मृति न्याय के संधान और उसकी प्राप्ति के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी है ।**

'**एकलव्य**' फ़िल्म को लेकर वे जो कुछ कहते हैं, वही तो उसका पारम्परिक पाठ है - उसने स्वेच्छा से गुरु-दक्षिणा के रूप में अपना अँगूठा दान कर दिया । इसलिए उसके साथ कोई अन्याय नहीं हुआ । बहरहाल, जब वंचित आदिवासी[30] समुदाय सामाजिक-राजनीतिक जीवन में अपनी दावेदारी के साथ सामने आने लगे, तो इस पारम्परिक पाठ को चुनौती मिलनी शुरू हुई । एकलव्य के साथ अन्याय हुआ, इस अन्याय को विस्मृत कर देने की वर्चस्ववादी कोशिशों के ख़िलाफ़ आवाज़ें उठने लगीं, और उसके साथ न्याय के संधान और उसकी प्राप्ति के प्रयास भी । अनेक जनों, समुदायों, वर्गों आदि में बँटे समाज में न तो आख्यानों का कोई एकल पाठ होता है, और न ही नैतिक परीक्षण की कोई एक प्रक्रिया । इस मामले में नवज्योति सजग ज़रूर हैं, लेकिन उनका झुकाव एकल पाठ और नैतिक परीक्षण की एकल प्रक्रिया की ओर अधिक है । यह गाथाओं के प्रसंग में भी दिखता है ।

नवज्योति के अनुसार 'पश्चिम में विमर्श बहुत अधिक है' और इस विमर्श में 'गाथाओं को लाना है' (पृ. 82) । **हमलोग गाथाओं वाले लोग हैं, पश्चिमवाले इतिहास-देवता-गाथाविहीन विमर्शवाले** । फिर वही 'हम' और 'वे' की नित्य दुनिया । (बहरहाल, भारत में कितना विमर्श है, इसे भारतीय विचार-परम्परा का नया अध्येता भी आसानी से लक्षित कर सकता है । इस लेख में ही पहले हम इसकी कुछ झलक दे चुके हैं ।)

गाथाएँ मानवजाति के अस्तित्व का अभिन्न अंग रही हैं; कोई भी मानव-समुदाय नहीं जिसके पास गाथाएँ नहीं । हम सब गाथाओं के महासागर में डूबने-उतरानेवाले प्राणी हैं । कौन कहता है कि युरोप के पास गाथाएँ नहीं हैं? युरोप नाम एक गाथा से जुड़ा नाम ही है - **युरोपा** फीनीशियन मूल की रानी थी, क्रीट के राजा मिनोस की माँ । ग्रीक देवता **जिउस** ने बृषभ का रूप धर कर उसका अपहरण किया था । ग्रीक, रोमन, नोर्स, जर्मन, आइरिश, लिथुआनियन आदि गाथाओं से युरोप का साहित्य और जनजीवन सराबोर रहा है । आज के कई उपकरणों, सॉफ्टवेयर आदि के नाम इन्हीं गाथाओं से लिये गये हैं । मौज़ूदा समय की महाकाय टेक कम्पनियों में से एक **एपल** का नाम और लोगो (थोड़ा चखा हुआ सेब) एक गाथा की ही याद दिलाता है - यह हमारे होने की गाथा है, वर्जना के अतिक्रमण की, निषिद्ध के संधान की गाथा । अमेज़न की वर्चुअल एसिस्टेंट **अलेक्सा** का नाम अलेक्जेंड्रिया (मिस्र) के प्रख्यात पुस्तकालय पर आधारित है - यह इतिहास-प्रसिद्ध पुस्तकालय **कला की नौ देवियों** को समर्पित था । ऐसे उदाहरणों को पूरी एक किताब में समेटना भी संभव नहीं ।

बहरहाल, हर युग में वर्चस्वशाली सामाजिक शक्तियाँ अपने स्वार्थ में कथाओं की बहुलता के बीच से किसी एक कथा को, किसी **एक** आख्यान को **एकमात्र** महाआख्यान में बदलने की कोशिश करती हैं । इसके परिणामस्वरूप गाथाएँ कथाओं के धागों से जो महाजाल बुनती हैं, वह टूट कर बिखर जाता है और समाज विघटन का शिकार हो जाता है । **एक आख्यान का एकमात्र महाआख्यान में परिवर्तन गाथा का मृत्युलेख है ।** समाज को इसका क्या परिणाम भुगतना पड़ता है इसे आप बीसवीं सदी के तीसरे-चौथे दशक में जर्मनी में आर्य-गाथाओं से 'ट्युटोनिक नस्ल का महाआख्यान' रचने के परिणास्वरूप होनेवाले जनसंहारों तथा युद्धों में देख सकते हैं ।

च. एक अकेले व्यक्ति की श्रेष्ठता प्राप्त करने की सनातनी व्यवस्था बनाम दूसरों को आधार बनाकर श्रेष्ठता हासिल करनेवाली व्यवस्था:

'नवज्योति: एक झाड़ के नीचे बैठकर मनुष्य श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त कर सकता है, अकेला, बिना किसी अधिसंरचना के । दूसरी दृष्टि यह है कि श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए उसे अन्य लोगों को आधार बनाना आवश्यक है । .. मूलतः बात यह है कि एक अकेला व्यक्ति अपने आप में श्रेष्ठता को प्राप्त कर सकता है ।

उदयन: यह सनातन दृष्टि है ।

नवज्योति: इसे कुछ लोग असामाजिक कह रहे हैं, पर ऐसा है नहीं । भविष्य में ऐसी व्यवस्था बनेगी ।

उदयन: यह सम्भावना सनातन दृष्टि के कारण बनेगी ।' (पृ. 40)

नवज्योति इन दो ध्रुवों के बीच एक **तीसरी अवस्था** की संभावना को देखने में फिर असमर्थ साबित होते हैं । इतिहास में व्यक्तियों, जनों, समुदायों, राष्ट्रों के बीच परस्पर सहयोग, सहभागिता और पारस्परिक लाभ के आधार पर श्रेष्ठता हासिल करने के अनेक उदाहरण मिलेंगे और आज भी जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में इसी माध्यम से अनेक बहुमूल्य उपलब्धियाँ हासिल हो रही हैं ।

दरअसल, मानवजाति के लिहाज़ से देखें तो एक अकेले व्यक्ति के लिए श्रेष्ठता हासिल करना तो दूर, अपना अस्तित्व बनाये रखना भी संभव नहीं, और दूसरों को आधार बनाकर श्रेष्ठता हासिल करनेवाली व्यवस्था वास्तव में बहुसंख्या की सृजनात्मकता को कुंद करनेवाली व्यवस्था है जो निरन्तर आन्तरिक संघर्ष और युद्धों से जूझती रहती है ।

छ. शिष्टता बनाम अशिष्टता : इस साक्षात्कार में नवज्योति ने इतनी बार 'शिष्टता' का प्रयोग किया है कि शिष्ट से शिष्ट व्यक्ति का मन भी 'अशिष्ट' होने के लिए मचल उठे ।[31] (84 पृष्ठों की किताब में पृष्ठ 55 के बाद ही क़रीब 52 बार यह शब्द आया है । इसके पहले भी कई जगह है । यहाँ हमने इस गणना में 'सद्गुण', 'संस्कारनिष्ठ' जैसे शब्दों को शामिल नहीं किया है ।)

बहरहाल, वह कौन-सी सबसे बड़ी अशिष्टता है जो आजतक मानवजाति के साथ जुड़ी हुई है? वह है, लिंग, नस्ल, रंग, जाति, वर्ग आदि पर आधारित भेदभाव, उत्पीड़न और हिंसा । मानवजाति की बहुसंख्या इस अशिष्टता का भुक्तभोगी रही है । अनेक विचार-प्रणालियों में इस अशिष्टता को वैधता प्रदान की गई है । मीमांसा भी उन्हीं विचार-प्रणालियों में से एक है - इसमें पुनर्जन्म और कर्मफल सिद्धान्त के आधार पर शूद्रों-अन्त्यजों और अनार्य जनों के प्रति संगठित अशिष्टता और हिंसा का महिमामण्डन किया गया है । (दलितवाले प्रसंग में हम इसका ज़िक्र कर चुके हैं ।) इस तरह, नवज्योति की शिष्टता इस संगठित अशिष्टता की पर्दादारी की नाकाम कोशिश है । वह भी एक ऐसे समय में जब हमारे तथा दुनिया के अनेक देशों के संविधानों में, संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में इस संगठित अशिष्टता के विरुद्ध मानव-मानव के बीच परस्पर सम्मान और समानता पर आधारित सम्बन्ध कायम करने का पक्षपोषण किया गया है, और इस अशिष्टता को, इस अशिष्टता-जनित भेदभाव, उत्पीड़न तथा हिंसा को संज्ञेय अपराध माना गया है ।

ज. कृषि समाज बनाम औद्योगिक समाज : नवज्योति लिखते हैं, 'भारत गाँवों में रहता है और हम कृषि प्रधान देश हैं, यह एक मिथक है । भारत को कृषि प्रधान कहना एक तरह की निर्मिति थी । भारत चिरकाल से औद्योगिक देश रहा है । कृषि यहाँ का दूसरे नम्बर का पेशा रहा है । हम औद्योगिक और पेशेवर समाज रहे हैं । .. यह देश कृषि प्रधान औपनिवेशिक होने के बाद बना है । भारत में खेती कभी भी मुख्य कार्य नहीं रहा । यह तो अधिकतर झल्ले किया करते थे । .. ' (पृ. 38-39-40)

अगर भारत चिरकाल से एक औद्योगिक देश रहा है तो विचारणीय विषय यह होना चाहिए था कि औद्योगिक देश होने के बावज़ूद आज हम जितने उपकरणों से घिरे हैं, और रोज़मर्रे के जीवन में जिनका इस्तेमाल करते हैं, उनमें से लगभग किसी भी चीज का आविष्कार हमारे यहाँ क्यों **नहीं** हुआ । नवज्योति इस प्रश्न का सामना ही नहीं करते ।

इस विषय पर विस्तार में गये बिना निम्नलिखित बातों पर ग़ौर करना चाहिए:

i. ग्रामीण समाज कृषि तथा दस्तकारी के आवयविक सम्बन्ध पर ही आधारित था । उद्योग-धंधे, कार्य-कौशल, विनिमय-व्यवसाय आदि प्राचीन जन-समाजों के काल से ही चले आ रहे हैं । विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्रों में विशिष्ट उद्योग-धंधों, कार्य-कौशल, विनिमय आदि के विकास का भी इतिहास काफ़ी पुराना है । सम्राटों, राजाओं तथा सामंतों की राजधानी में बड़ी-बड़ी कार्यशालाएँ होती थीं जहाँ राज्य भर से चुनिंदा कारीगरों तथा प्रशिक्षु कारीगरों द्वारा सामंतों के इस्तेमाल की सामग्रियों, उपकरणों, हथियारों आदि का बड़े पैमाने पर निर्माण किया जाता था । समुद्र तटवर्ती इलाकों में समुद्रपारीय व्यवसाय, कारीगरों की बस्तियों का भी काफ़ी प्राचीन इतिहास है । **बहरहाल, कोई समाज कृषि प्रधान है या नहीं, यह इस बात से तय होता है कि उस समाज की सम्पत्ति का, उस देश की आय का मुख्य स्रोत क्या है? भारत के विशाल भौगोलिक क्षेत्र में विभिन्न राजतंत्रों तथा साम्राज्यों की आय का मुख्य स्रोत भूमि से, कृषि से प्राप्त राजस्व ही था ।** यहाँ तक कि ईस्ट इंडिया कम्पनी के राजस्व का भी । यह सही है कि 1813, तथा खासकर 1830 के चार्टर एक्ट के बाद जब भारत का बाजार ब्रिटिश कपड़ा मिलों के लिए खोल दिया गया तो भारतीय उद्योगों (खासकर वस्त्र-उद्योग) को भारी तबाही का सामना करना पड़ा और कृषि पर बोझ काफ़ी बढ़ गया, जिसे हम 'डि-इंडस्ट्रियलाइजेशन' की परिघटना के रूप में जानते हैं । सामंती सेनाओं के विघटन ने भी इसमें अपना योगदान दिया । लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि इसके पहले भारत कृषि प्रधान देश नहीं था । मौर्यों, गुप्तों, मुग़लों और अन्य भारतीय राजाओं की आमदनी का मुख्य स्रोत भू-राजस्व ही था । सामंत ही वर्चस्वशाली वर्ग थे और बहुसंख्या कृषि पर ही निर्भर थी । व्यापारियों ने ऋण-बॉण्डों अथवा युद्ध-बॉण्डों के जरिये उन्हें तब भी सोने की जंजीरों में बाँध नहीं रखा था । ईस्ट इंडिया कम्पनी इसी भू-राजस्व से न सिर्फ़ अपना प्रशासनिक ख़र्च वहन करती थी, बल्कि अपना व्यवसाय भी इसी आय से चलाती थी ।

ii. कोई वास्तुशिल्पी, मूर्तिकार, चित्रकार भारत में आकर यहाँ के मंदिरों, राजमहलों, मूर्ति-शिल्पों तथा कलाकृतियों को देखकर यह कहे कि भारत वास्तुशिल्पियों और कलाकारों का देश है तो यह कोई गलत बात नहीं होगी । लेकिन इससे वह निष्कर्ष निकाले कि भारत कृषि-प्रधान नहीं, कला-प्रधान देश है तथा कला ही यहाँ का मुख्य व्यवसाय है तो यह गलत होगा । राजमहलों, मंदिरों आदि का निर्माण कारीगर/श्रमिक करते थे, लेकिन उनका ख़र्च किसानों को ही वहन करना पड़ता था ।

1850 के दशक में भारत में तीन सर्वथा नये उद्यमों की शुरुआत हुई - रेल, टेलिग्राफ़ और आधुनिक कपड़ा मिल । इन कार्यों के लिए प्रबंधक, इंजीनियर, अतिकुशल श्रमिक तो इंगलैंड और अन्य युरोपीय देशों से लाये गये थे, लेकिन स्थानीय तौर भी अर्ध-कुशल, अकुशल मज़दूरों की ज़रूरत थी । इस मामले में अँग्रेज़ों ने ख़ुद सर्वे कराया और पाया कि 'भारतीयों में अपने को बिल्कुल नये ढंग के काम के अनुकूल ढाल लेने और मशीनों को चलाने के लिए आवश्यक जानकारी हासिल कर लेने की विशेष योग्यता होती है ।' अँग्रेज़ इतिहासकार **जी. कैम्पबेल** ने ठीक वही बात 1852 में लिखी जो नवज्योति सिंह ने 2018 में, 'भारत की अधिकांश जनता में महान **औद्योगिक शक्ति** है, पूँजी इकट्ठा करने की क्षमता है, गणित के लिए उसका मस्तिष्क विलक्षण रूप से साफ है, और सांख्यिकी तथा तथ्य विज्ञानों के लिए उसमें मेधा है । .. उनकी बुद्धि बहुत अच्छी है ।' बहरहाल, कैम्पबेल के इस उद्धरण को उद्धृत करने के तुरत बाद मार्क्स उस बात को कहना नहीं भूले जिससे नवज्योति साफ कन्नी काटकर निकल गये । भारतीयों की महान औद्योगिक शक्ति के साकार होने की राह में उन्होंने 'उस पुस्तैनी श्रम विभाजन' को ज़िम्मेवार ठहराया जिसपर 'भारत की जात-पांत व्यवस्था खड़ी है और जो भारत की उन्नति तथा शक्ति के रास्ते में **सबसे बड़ी रुकावट** है ।'[32]

iii. युरोप में शास्त्रीय राजनीतिक अर्थशास्त्र के शुरुआती काल में कई प्रमुख अर्थशास्त्री ('फिज़ियोक्रैट्स') कृषि को ही सारी सम्पत्ति का मूल स्रोत बताते थे और खेतिहरों को छोड़कर बाकी सभी वर्गों को परजीवी मानते थे । औद्योगिक क्रान्ति तथा औद्योगिक पूँजीवाद के विकास, राष्ट्रीय आय में कृषि की निरन्तर घटती हिस्सेदारी और कृषि आबादी में ह्रास के क्रम में कृषि का महत्व घटने लगा और कृषि समाज के प्रति दृष्टि भी । वर्तमान में ऐसे कई विचारक हैं जो कृषि युग की तुलना में शिकारी-फल-संग्राहक समाजों का महिमामण्डन करते हैं । **युवल नोआ हरारी** (2014) तो अपनी बहुचर्चित किताब 'सेपियन्स: अ ब्रीफ़ हिस्ट्री ऑफ़ ह्युमनकाइण्ड' में 'कृषि क्रान्ति को इतिहास के सबसे बड़े फ़्रॉड' की संज्ञा देते हैं - किताब के पाँचवें अध्याय का शीर्षक ही है 'हिस्ट्रीज़ बीगेस्ट फ़्रॉड' । मेरी समझ से मानवजाति के क़रीब दस हजार वर्षों के एक पूरे युग के बारे में इस तरह का **नैतिक फ़ैसला** सुनाना कहीं से भी उचित नहीं है । शिकारी-फल-संग्राहक युग की उपलब्धियों तथा विशेषताओं को सामने लाने के लिए कृषि युग को बिल्कुल नकारात्मक रूप में पेश करना ज़रूरी नहीं है ।

इस प्रकार नवज्योति किसानों के बारे में जो कुछ कहते हैं, उसमें नया कुछ नहीं है । **'कृषि तो झल्ले किया करते थे' - यह कथन मानव जाति के दस हजार वर्षों के सबसे बड़े उत्पादक वर्ग के प्रति घोर अपमानजनक टिप्पणी है** । उद्योग-धंधों तथा कारीगरों का महत्व सामने लाने के लिए कृषि-कर्म का अवमूल्यन करना ज़रूरी नहीं ।

दरअसल, कृषि और दस्तकारी की एकता पर आधारित ग्रामीण समाज में जाति की सोपानमूलक संरचना में अन्तर्निहित (जातियों के बीच) भेदभाव के बावज़ूद प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक समय-समय पर ब्राह्मणवादी समाज-व्यवस्था के ख़िलाफ़ संघर्षों तथा आन्दोलनों में किसान और कारीगर एकजुट होते रहे हैं, और शूद्र जातियों के सुधारक-संतों के सामाजिक आधार रहे हैं ।

विरोधी प्रवर्गों से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण विषयों की चर्चा हम अलग से करेंगे । लेकिन आगे बढ़ने से पहले कुछ अन्य विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी अपेक्षित है:

क. आधुनिकता की सबसे बड़ी विधायक शक्ति: नवज्योति के अनुसार, आधुनिकता की सबसे बड़ी विधायक शक्ति विज्ञान-टेक्नोलॉजी है । क्या यह सही है ? आधुनिकता के कई संघटक तत्व हैं - पुनर्जागरण और प्रबोधन की पृष्ठभूमि में कला-साहित्य और विचार-दर्शन के क्षेत्र में नव-प्रवर्तनकारी धाराओं का अभ्युदय, धर्मसुधार आन्दोलन, वैज्ञानिक क्रान्ति, पवित्र रोमन साम्राज्य का विघटन और राष्ट्र-राज्यों का उत्थान, सम्प्रभुता के नये सिद्धान्तों और प्रणालियों का जन्म, व्यापारिक और फिर औद्योगिक क्रान्ति, औपनिवेशिक प्रणाली तथा दास-प्रथा, फ़्रांसीसी राज्य-क्रान्ति और संवैधानिक प्रजातंत्रों की स्थापना, लोकतांत्रिक संस्थाओं का विकास, नारी आन्दोलन, मज़दूर तथा समाजवादी आन्दोलन, सार्विक मताधिकार आदि । इन सारे संघटक तत्वों की अपनी स्वायत्तता भी रही है । अलग-अलग युरोपीय देशों में यह प्रक्रिया अपनी-अपनी विशिष्टताओं के साथ आविर्भूत हुई । बहरहाल, वह कौन-सी सर्वग्रासी शक्ति है जिसने इन सारे संघटक तत्वों को अपने अधीन कर सम्पूर्ण विश्व को अपने आग़ोश में ले लिया और जिसके सर्वग्रासी वर्चस्व से कई संघटक तत्व आज भी जूझ रहे हैं । वह है **पूँजी - पूँजीवादी आर्थिक-सामाजिक प्रणाली** ।

मीमांसक दृष्टि **बाह्य अंधकारमयता की इस विधायक शक्ति** को नज़रअंदाज़ कर दरअसल उसके प्रभुत्व का मार्ग प्रशस्त करती है । विज्ञान-टेक्नोलॉजी अपने-आप में अन्धकारमयता की वाहक नहीं, उसे तो ख़ुद अपने स्वायत्त विकास के लिए मुनाफ़ा-चालित पूँजी की ताकत से जूझना पड़ रहा है । नवज्योति के पूरे साक्षात्कार में बाह्य अन्धकारमयता की इस विधायक शक्ति का ज़िक्र तक नहीं है ।

ख. संविधान: 'विचरण' में नवज्योति एक न्यायाधीश महोदय के कथित संस्मरण के सहारे भारतीय संविधान को अधूरा, खण्डित संविधान बताकर उसे ख़ारिज़ करते हैं । भारतीय संविधान की रचना-प्रक्रिया और उसके चित्रांकन पर देशी-विदेशी अनेक विद्वानों ने क़ाफी कुछ लिख रखा है, उसके विस्तार में मैं यहाँ नहीं जाऊँगा । बहरहाल, नवज्योति जिस तरह से संविधान को ख़ारिज़ करते हैं, वह न सिर्फ़ हास्यास्पद, बचकाना और किसी भी गंभीर चर्चा के बिल्कुल अयोग्य है, बल्कि एक ख़तरनाक प्रवृत्ति का

अनुमोदन भी । हिन्दुत्ववादी शक्तियों की गोष्ठियों में इसी तरह की कानाफूसी और अपुष्ट संस्मरण बाहर समाज में अविश्वास तथा उन्माद पैदा करने के एज़ेण्डे का चिरपरिचित तरीका है । 'किसी न्यायाधीश महोदय को जब वे इलाहाबाद में वकील थे तो उनके एक मुसलमान मुवक्किल ने आनन्द भवन से लाकर उन्हें संविधान की मूल प्रति दिखलाई, उसमें उन्होंने अनेक चित्रांकन देखा, उस चित्रांकन में श्रीराम का चित्र श्रीराम को संवैधानिक चरित्र प्रदान करता है, और इसलिए शासन का यह दायित्व है कि वह श्रीराम की मूर्ति की सुरक्षा करे । ..' (पृ. 48-49-50) अगर न्यायाधीश इस तरह फ़ैसले सुनाने लगें, तो न्याय व्यवस्था का क्या होगा, इसकी आप कल्पना कर सकते हैं । अगर किसी न्यायाधीश को लगता है कि वर्तमान संविधान खण्डित संविधान है, जिसे वे नहीं मानते हैं, तो उन्हें इस्तीफ़ा देकर सर्वप्रथम संविधान की स्थिति स्पष्ट करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय जाना चाहिए, न कि अपने संस्मरण के आधार पर फ़ैसला सुनाने का गैर-संवैधानिक तरीका अपनाना चाहिए । नवज्योति राष्ट्रीय चरित्र उद्घाटित करने के लिए इन चित्रांकनों में गौमाता और श्रवणकुमार का चित्रांकन शामिल करने के सुझावों का भी ज़िक्र करते हैं ।

ग. एक्ज़ेक्ट ह्युमेनिटीज़: नवज्योति इण्टरनेशनल इंस्टीट्युट ऑफ़ इनफ़ॉरमेशन टेक्नोलॉज़ी, हैदराबाद में एक्ज़ेक्ट ह्युमेनिटीज़ विभाग के संस्थापक-अध्यक्ष थे । मेरी समझ से ह्युमेनिटीज़ के साथ एक्ज़ेक्ट विशेषण संलग्न करना सही नहीं है ।

इंज़ीनियरिंग में डिज़ाइन का **एक्ज़ेक्ट** अनुपालन (अथवा कार्यान्वयन) ज़रूरी है । रत्ती भर हेर-फेर से भी निर्माणाधीन फ्लाइओवर का स्लैब गिर जा सकता है, ब्लास्ट फ़रनेस में विस्फोट हो सकता है, और इस तरह जान-माल की भारी क्षति हो सकती है । मीमांसा के कर्मकाण्डों में विधि-विधानों का **एक्ज़ेक्ट** अनुपालन ज़रूरी माना जाता है, अन्यथा यज्ञ से अपेक्षित फल प्राप्त नहीं होने, यहाँ तक कि उसका अनिष्टकारी परिणाम होने की बात कही जाती है । इस प्रकार, **नवज्योति के एक्ज़ेक्ट शब्द के दो स्रोत हैं - इंजीनियरिंग** (आइ. आइ. टी.) **और जैमिनीय मीमांसा** ।

बहरहाल, मानव समाज की विशिष्टता यह है कि उसकी कोई एक्ज़ेक्ट डिज़ाइन **नहीं** बनायी जा सकती, और **न** ही उसके नियमन का कोई तयशुदा विधि-विधान ही हो सकता है । जब-जब ऐसी कोशिश की गई, तब-तब समाज को जनसंहारों, युद्धों, हिंसक अभियानों के रूप में भारी कीमत चुकानी पड़ी है ।

ऐतिहासिक रूप से विकसित समाजों में इन समाजों की अचूक डिज़ाइन आख़िर कौन तैयार करेगा ? अल्पसंख्यक समुदाय चार प्रतिशत से अधिक होने से अगर राष्ट्र अस्थिर हो जाता है, तो चार प्रतिशत की सीमा के पार रहनेवाले समुदाय के नागरिकों के साथ क्या सलूक़ किया जाएगा - क्या उन्हें येन-केन-प्रकारेण प्रताड़ित कर निष्कासित किया जाएगा, जनसंहार के जरिये, या 'आउत्शविज़' के गैस-चेम्बर में

भेज कर सही अनुपात स्थापित किया जाएगा ? क्या यह सामाजिक डिज़ाइन जनसंहारों के एक आत्मघाती सिलसिले को औचित्य प्रदान नहीं करेगा ?

नवज्योति नाटकों के माध्यम से वास्तविकता को प्रकट करने के इच्छुक हैं, इसलिए पाठक यह देखना चाहेंगे कि 'विचरण' में निम्नलिखित वक्तव्य रखते वक़्त उनकी आंगिक भाव-भंगिमा कैसी थी, क्या उनके चेहरे पर व्यंग्यात्मक मुस्कान थी ? - 'युरोप में भी यह दृष्टि रही है कि अगर कोई अल्पसंख्यक समुदाय चार प्रतिशत से अधिक होता है तो राष्ट्र अस्थिर हो जाता है । यह युरोप की व्यावहारिक व्यवस्था है । तमाम प्रवासी नियम और जनसंख्या को रोकने की नीतियाँ इसी नियम पर आधारित हैं । इसीलिए जर्मनी में तुर्की अल्पसंख्यक चार प्रतिशत नहीं हैं । यह ध्यान रखा जाता है कि कोई भी अल्पसंख्यक समुदाय चार प्रतिशत से अधिक न हो । भारत में यह प्रतिशत लगभग अठारह से बीस है, पर तब भी सब कुछ अच्छी तरह से चलता है । ..' (पृ. 53) वैसे उपर्युक्त वक्तव्य हिन्दुत्ववादी शक्तियों तथा उनकी देखरेख में 'राष्ट्रीय नागरिकता रज़िस्टर' तैयार करनेवालों के लिए एक तरह का दिशा-निर्देश है ।

7. पीठतंत्र बनाम लोकतंत्र

लगभग सभी दार्शनिक साहित्य में राज्य, सम्पत्ति और सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति से सम्बन्धित व्याख्याएँ मिलती हैं । मिथकों-पुराणों आदि में भी इससे जुड़ी कथाएँ देखी जा सकती हैं । **चार बड़ी सामाजिक श्रेणियाँ** - विचारकों/नीतिनिर्माताओं/पुरोहितों की श्रेणी, शासकों/भूस्वामियों की श्रेणी, व्यवसायियों की श्रेणी, और श्रमिकों/सेवकों की श्रेणी - प्राचीन काल से आजतक समाज में तथा विभिन्न संस्थाओं में पायी जाती हैं । इन सामाजिक श्रेणियों की उत्पत्ति और सामाजिक विकास के अलग-अलग चरणों में उनमें होनेवाले परिवर्तनों का विश्लेषण प्रायः प्रत्येक दार्शनिक विमर्श का प्रचलित विषय होता है । नवज्योति सिंह ने 'विचरण' में इस प्रश्न पर अपना जो विचार प्रकट किया है, वह संक्षेप में इस प्रकार है :

'यह वेद हर व्यक्ति में स्वायत्ततः उपलब्ध है । .. यदि स्वायत्तता का एक अर्थ शक्ति का स्रोत भी है, तो वह इसी में है कि आपको उचित और अनुचित का **सर्वथा अद्वितीय विवेक** उपलब्ध है । .. पर ऐसा होता है कि लाघव के कारण यानी किसी विशेष फल की प्राप्ति के लिए व्यक्ति अपनी स्वायत्तता का उपयोग नहीं करता, वह उसे दूसरों पर छोड़ देता है । .. प्रभुता का जन्म इसी तरह होता है, जब आपके स्थान पर कोई और आपका निर्णय लेता है । .. चूँकि व्यक्ति स्वयं निर्णय नहीं ले पा रहा होता है, इसलिए **वह अपनी स्वायत्तता, प्रभुता-संपन्न व्यक्ति को सौंप देता है** । शक्ति के केन्द्रों का निर्माण इसी तरह होता है । .. आप वित्तविषयक निर्णय अन्यों पर छोड़ देते हैं, इससे **वित्तपीठ** बन जाती है । जब आप यह निर्णय कि बच्चों को क्या सिखाना है .. शिक्षकों पर छोड़ देते हैं, तब .. **विद्यापीठ** या संस्कृति पीठ बनते हैं । दण्ड देना भी जब अन्यों पर छोड़ दिया जाता है, तो इससे **राजपीठ** बनती है

। इसी तरह आपको द्वन्द्वों से कैसे निपटना है, इसका दायित्व जब आप अन्यों पर छोड़ देते हैं, इससे **धर्मपीठ** तैयार हो जाती है । ये कुल मिलाकर **चार पीठें** हैं । इन्हें ही चतुर्वर्ण कहा गया है । इस व्याख्या में सारी शब्दावली मीमांसा की नहीं है, आधुनिक भी है, पर इससे यह सब निकल आता है । इन पीठों के पीठाधिकारियों का यह दायित्व है कि जिन लोगों ने भी उसके आगे अपनी स्वायत्तता समर्पित की है उनकी ओर से विवेकपूर्ण निर्णय ले, न्यायपूर्ण निर्णय ले । .. अगर पीठाधिपति यह सोचे कि मुझे अपनी रक्षा करनी है, तो वह राक्षस प्रवृत्ति का पालन कर रहा है । यही कुछ आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में हो रहा है । .. राक्षसों और देवताओं का संघर्ष अन्तःकरण में हमेशा होता आ रहा है । .. यहाँ एक विचार यह है कि हर व्यक्ति सार्वभौमिक स्तर पर न्याय कर सकता है । (मीमांसा में यह विचार आता है) इसलिए उसे ईश्वर की आवश्यकता नहीं होती । चूँकि हर व्यक्ति की सीमाएँ हैं, उसका शरीर सीमाबद्ध है इसलिए उसे दूसरे पर भरोसा करना होता है, उसे कुछ चीजें दूसरों पर छोड़नी पड़ती है । **यह नैसर्गिक है**। शक्ति के स्वरूप इस तरह अपने आप बनते रहते हैं । ..' (पृ. 71-72-73)

थोड़ा ग़ौर करने से ही इन विचारों में अन्तर्निहित असंगति दिख जाएगी ।

1. प्रभुता के उद्‌भव की व्याख्या का दावा करने के बावज़ूद इस तर्कप्रणाली में प्रभुता के जन्म की कोई व्याख्या नहीं है । यह विश्लेषण प्रभुता-संपन्न व्यक्तियों अथवा प्रभुता के केन्द्रों के अस्तित्व की पूर्वापेक्षा करता है, जिन्हें शरीर की सीमाओं के कारण लोगों को अपनी स्वायत्तता समर्पित करनी पड़ती है । **पीठों** की यह **नैसर्गिक व्यवस्था** पहले से ही बनी हुई है ।

2. यदि वेद हर व्यक्ति में स्वायत्ततः उपलब्ध है, यदि आपको उचित और अनुचित का **सर्वथा अद्‌वितीय विवेक** हासिल है, तो इसका सीधा अर्थ है कि **हर व्यक्ति में स्वायत्ततः उपलब्ध यह वेद-शक्ति अहस्तांतरणीय** है । जिस व्यक्ति को यह समर्पित करने की बात कही जा रही है, उस व्यक्ति के पास भी सर्वथा अद्‌वितीय यह वेद-शक्ति उपलब्ध है । (मीमांसक न्याय परम्परा में जैमिनि तीन प्रमाणों - प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द - को मानते थे । प्रभाकर इसमें दो और प्रमाणों को जोड़ते हैं - उपमान और **अर्थापत्ति** । प्रभाकर के अर्थापत्ति वाले प्रमाण को ही लें तो इससे यह निकल आता है कि जो सर्वथा अद्‌वितीय विवेक है, वह अहस्तांतरणीय है । अद्‌वितीय **अर्थात** अहस्तांतरणीय । इस प्रकार, प्रभाकर के मीमांसात्मक न्याय से ही नवज्योति का तर्क खण्डित हो जाता है ।) अगर लाघव के कारण अथवा किसी भी कारण यह हस्तांतरित की जा सकती है, दूसरों को समर्पित अथवा सौंपी जा सकती है, तो यह अद्‌वितीय वेद-शक्ति तो नहीं ही हो सकती, कोलगेट वेदशक्ति जैसी कोई चीज भले हो सकती है ।

इसका मतलब है कि प्रभुता और शक्ति के केन्द्रों के जन्म की कोई दूसरी व्याख्या आपको करनी पड़ेगी । इस व्याख्या में मैं अभी नहीं जाऊँगा - दार्शनिक साहित्य के जानकार पाठक इन व्याख्याओं से परिचित होंगे । कुल मिलाकर आपको उन सामाजिक स्थितियों के विश्लेषण में जाना पड़ेगा जिनके

अन्तर्गत प्रभुता और दासता के सम्बन्ध विकसित होते हैं और शक्ति के केन्द्रों का निर्माण होता है । व्यक्तियों के लाघव पर सारी जिम्मेवारी डालकर आप इस समस्या से पल्ला नहीं झाड़ सकते ।

नवज्योति के अनुसार, इसी लाघव के कारण (अथवा शरीर की सीमा के कारण) लोगों द्वारा अपनी स्वायत्त शक्ति के समर्पण से समाज में विभिन्न पीठों का निर्माण होता है - धर्मपीठ, राजपीठ, वित्तपीठ, विद्यापीठ आदि । ये पीठ, 'शक्ति के केन्द्र हर समाज में हैं और उसी तरह समाजों में स्वाभाविक रूप से रहते हैं जैसे आग में तेज । इन पीठों में ही **विधायक शक्ति** होती है । .. यह नैसर्गिक है ।' (पृ. 73)

इस प्रकार, नवज्योति **विधायक शक्ति-संपन्न नैसर्गिक पीठतंत्र** का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं । उनके अनुसार, इन पीठों में **देवासुर संग्राम** चलता रहता है और **हमारा काम इन पीठों से राक्षसों को हटाकर देवताओं को पीठाधिपति के रूप में स्थापित करना है** । (मीमांसा के साहित्य में सांसारिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए तर्क-बुद्धिसंगत ज्ञान के आधार पर कर्म करनेवाले असुर और शास्त्रोक्त लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए शास्त्र-सम्मत विधियों के आधार पर कर्म करनेवाले देवता माने जाते हैं ।) कुलमिलाकर, **आधुनिक लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं के मुक़ाबले देवताओं की सरपरस्तीवाले पीठतंत्र की नैसर्गिक, सनातनी व्यवस्था का यह है नवज्योति सिंह का सिद्धान्त** । हिन्दुत्व की राजनीतिक परियोजना के अन्तर्गत किस तरह की राजनीतिक व्यवस्था कायम की जानी है, इसे आप यहाँ देख सकते हैं ।

1925 में धर्मपीठ बन चुकी है और देवता ही उसके पीठाधिकारी हैं । क़रीब 90 वर्षों बाद केन्द्रीय राजपीठ पर 2014 में देवताओं का नेतृत्व कायम हुआ जिसे कायम रखना है और जिसका पूरे देश में, प्रत्येक प्रदेश में विस्तार करना है । वित्त पीठ (रिज़र्व बैंक तथा विभिन्न वित्तीय संस्थाओं) पर नियंत्रण के लिए भी हर मुमकिन कोशिश जारी है । विद्यापीठों में देवासुर संग्राम चल रहा है और असुर-सेक्यूलरों को हटाकर देवताओं को पीठाधिपति बनाने का काम ज़ोर-शोर से चल रहा है ।

8. √अस्- बनाम √भू-

नवज्योति के दार्शनिक विमर्श में अगर कुछ ऐसा है जिसपर थोड़ी गंभीर चर्चा अपेक्षित है तो वह व्याकरण तथा सामान्य क्रिया के निरूपण सम्बन्धी उनके विचार हैं । वैसे, आगे हम देखेंगे कि कैसे उनके ये विचार भी मौलिक नहीं हैं और सीधे प्राचीन मीमांसा से ही लिए गये हैं, तथापि उनके प्रस्तुतीकरण में, ग्रीको-युरोपियन परम्परा के साथ उसके तुलनात्मक अध्ययन में वे कुछ नवीनता लाने की कोशिश करते हैं और उसे आधुनिक शब्दावली में 'प्रकट' करते हैं । दरअसल, इस 'प्रकटीकरण' के अभाव में, उनके दार्शनिक विचारों को मैं **नव**-मीमांसा की संज्ञा देने से भी परहेज करता । चूँकि इस सम्बन्ध में '**विचरण**' में उन्होंने बहुत ही संक्षिप्त चर्चा की है, इसलिए इसपर टिप्पणी के लिए मैंने

‘**प्रतिमान**’ (अंक 11, जनवरी-जून 2018) में प्रकाशित उनके लेख ‘**अंधकारमयता का अन्वेषण ग्रीको-युरोपियन ज्ञानोदय के स्थानान्तरण की समस्या**’ के कुछ अंशों का उपयोग किया है । इस लेख में प्रस्तुत उनकी कतिपय मान्यताओं का ब्यौरेबार खण्डन करने की जगह मैंने उन मान्यताओं के समानान्तर अपनी कुछ बातें रखी हैं (ब्यौरेबार खण्डन में काफ़ी विस्तार में जाना पड़ता) । पाठक दोनों की तुलना कर दो दृष्टियों के फ़र्क को आसानी से रेखांकित कर सकते हैं ।

आगे बढ़ने से पहले व्याकरण के सम्बन्ध में उनके विचारों पर कुछ चर्चा अपेक्षित है ।

क. नवज्योति लिखते हैं, ‘हम व्याकरणवाले लोग हैं । रैशनलिटी अलग चीज है, व्याकरण अलग । पर एक समय था जब व्याकरण वाले लोग सारी दुनिया में फैल गये थे, कि व्याकरण ही मूल रैशनलिटी है, कि सृष्टि की समझ व्याकरण से ही अधिक होती है ।’ (पृ. 84)

यहाँ यही बताना पर्याप्त है कि हम **व्याकरणवाले नहीं, व्याकरणोंवाले लोग** हैं । परम्परावाले संदर्भ की तरह यहाँ भी उनकी दृष्टि आर्य-जनों तक ही सीमित रह जाती है - भारत की इस अतिसंकुचित दृष्टि में संस्कृत से इतर द्राविड़, आग्नेय, भोट आदि भाषा-परिवारों और उनके व्याकरणों की कोई जगह नहीं है । यहाँ तक कि आर्य भाषा-परिवार की भाषाओं - संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश - के व्याकरणों में कई भिन्नताएँ हैं । गुप्त काल में कातंत्रिक वैयाकरणों और पाणिनीय वैयाकरणों के बीच नोंक-झोंक का भी विवरण मिलता है ।[33] इस पर कुछ चर्चा हम आगे करेंगे ।

ख. बिना किसी अतिरिक्त व्याख्या के यहाँ स्पष्ट कर देना जरूरी है कि **हम** सिर्फ़ व्याकरणवाले लोग ही नहीं, रैशनलिटीवाले लोग भी हैं, और **वे** भी सिर्फ़ रैशनलिटीवाले नहीं, व्याकरणवाले लोग हैं ।

इस संक्षिप्त स्पष्टीकरण के बाद हम मूल विषय पर आते हैं । सामान्य क्रिया के प्रश्न पर **प्राचीन ग्रीक** और **प्राचीन भारतीय** वैयाकरणों के बीच भेद को रेखांकित करते हुए वे लिखते है :

“सामान्य क्रिया की खोज का प्राचीन ग्रीक ज़वाब यही है - होना (टू बी, बीइंग) .. होने की क्रिया एक परमाणु जैसा है । इस क्रिया का परमाणु स्वरूप और इसकी सार्वभौमिकता इसकी अनुमति नहीं देता कि इसके अर्थ का समावेश अन्य क्रियारूपों में हो सके, यहाँ तक कि क्रिया रूप ‘बन जाने’ में भी नहीं । .. क्रिया शब्द ‘होना’ या ‘टू बी’ एक ऐसी धुरी बन जाती है, जिसके इर्द-गिर्द ग्रीको-युरोपियन ज्ञानोदय की विश्लेषणात्मक शक्ति मँडराती रहती है । .. पतंजलि (महाभाष्य) .. ‘भवते’ (घटित होना) ही वास्तव में सामान्य क्रिया है । ‘अस्ति’ में सकर्मक भाव नहीं है (अकर्मक होने के कारण उसमें कर्म का भाव नहीं है), जो कि ‘भवते’ में है । .. इस प्रकार के अकाट्य तर्क के आधार पर पतंजलि इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ‘भवते’ ही सामान्य क्रिया है, ‘अस्ति’ नहीं । भारतीय सैद्धान्तिकी में ‘भवते’ के विश्लेषणात्मक जगत के लिए प्रतिबद्धता है, न कि ‘होने’ के विश्लेषणात्मक जगत के लिए । ..” (प्रतिमान, अंक 11, पृ. 6-7)

प्राचीन भारतीय विचार-परम्परा में मीमांसकों तथा वैयाकरणों की घनिष्ठता एक ज्ञात तथ्य है । क्रिया के प्रश्न पर **मीमांसक-वैयाकरण** और **नैयायिक** विपरीत मत रखते थे - एक ओर, मीमांसकों-वैयाकरणों का मानना था कि **क्रिया ही वाक्य की धुरी है**, और क्रियाविहीन वाक्य निरर्थक होता है (कोई अर्थ सम्प्रेषित नहीं करता), वहीं दूसरी ओर, **नैयायिक वाक्य में क्रिया की कोई भूमिका नहीं मानते थे** । नैयायिकों के अनुसार, कोई प्रतिज्ञप्ति **पदसमूहों** से बनती है और इन पदसमूहों से ही वाक्य का समग्र अर्थ खुलता है, भले ही वाक्य में क्रिया हो या न हो । इस प्रकार नवज्योति इस प्रश्न पर नैयायिकों की जगह स्वभावतः मीमांसक-वैयाकरण परम्परा के प्रति अपनी निष्ठा का प्रदर्शन कर रहे हैं ।

जहाँ तक अकर्मक अस्ति बनाम सकर्मक भवति का प्रश्न है, तो ग्रीको-युरोपियन परम्परा में ही नहीं, भारतीय भाषा-परिवारों में ही इस मामले में कई भिन्नताएँ मिल जाती हैं । उदाहरण के लिए, संताली भाषा के व्याकरण में अकर्मक और सकर्मक क्रिया बनाम के रूप में उपस्थित नहीं होती :

'संताली धातु (क्रिया-मूल) प्रायः अपने-आप में अकर्मक या सकर्मक नहीं होते हैं, अपितु एक ही धातु या क्रिया-मूल, भिन्न-भिन्न काल-प्रत्ययों के अनुसार, अकर्मक या सकर्मक हुआ करता है । .. संताली में काल-प्रत्ययों के भेद से एक ही क्रिया मात्र अकर्मक या सकर्मक ही नहीं, अपितु द्विकर्मक, निजार्थक, विशेषार्थक, पारस्परिक, प्रेरणार्थक आदि हो जाया करती है । यह संताली की मौलिक विशेषता है ।'[34]

अब आइये, भारतीय विचार-परम्परा में ही **अकर्मक अस्ति और सकर्मक भवति के एक दूसरे में रूपान्तरण** का ज़ायज़ा लेते हैं । अकर्मक अस्ति को सकर्मक भवति में रूपान्तरित करना प्राचीन भारतीय विचारकों के लिए भी कम चुनौतिपूर्ण नहीं था । आरम्भ में **अस्ति** था - सृजन में सर्वथा असमर्थ । उन्होंने **अस्ति के गर्भ में कामना का बीज रख दिया**[35], और फिर क्या था ? अस्ति भवति में, **सृष्टि की उत्सवलीला**[36] में परिणत हो गया । अस्ति में भाव-प्रत्यय लगाने से अस्तित्व बनता है और अस्तित्व के रूप में उसकी व्याप्ति नाना रूपों में संपन्न होती है । (अस्ति के भवति में रूपान्तरण की कुछ और व्याख्याएँ आपको उपनिषदों में मिल जाएँगी ।)

इस तरह, **एक शानदार अकेलेपन में खड़ी 'होने' की अविघटनीय क्रिया कामना की मध्यस्थता से 'भवति' में विघटित होकर हर क्रिया को अनुप्राणित करती है और सृष्टि में परिणत हो जाती है** - **'प्रकृत अस्ति' 'विकृत भवति' में खुलती है, हिरण्यगर्भ का अन्तःक्षेत्र (अस्ति) विराट्/विराज (भवति) में स्थानातीत प्रसार पाता है ।**

अब उलट रूप में इस विषय का ज़ायज़ा लेते हैं - **'भवति' के 'अस्ति' में रूपान्तरण** का ज़ायज़ा । बलि से सृष्टि प्राचीन विचार-परम्परा की एक अत्यन्त उल्लेखनीय अवधारणा है । हर सृजन के मूल में बलि है - सृष्टि बलि और सृजन की अनवरत् प्रक्रिया है ।

विराट् पुरुष के विभिन्न अंगों की बलि से संसार की (जड़-चेतन) सभी चीजों की सृष्टि हुई - यह एक विराट् घटना (भवति) है । बहरहाल, बलि से जन्मे सारे अस्ति(त्व)-रूप नित्य रूप थे - अपने घेरों में बंद, एक-दूसरे में स्थानान्तरण की किसी संभावना से वंचित । पैरों से जन्म लेनेवाले कभी मुख से जन्म नहीं ले सकते थे और मुख से जन्म लेनेवाले कभी पैरों से । **यह नित्य अस्तित्व-रूपों की सदा के लिए स्थिर, जड़ दुनिया थी । यह एकमात्र और अन्तिम बलि थी, अन्तिम सृजन, जहाँ प्रत्येक अस्तित्व-रूप की सदा के लिए एक निश्चित जगह तय कर दी गई थी ।** अगर कोई बदलाव होना ही था तो वह किसी अगले जन्म, अगले युग, अगले मन्वंतर में ही संभव था । कुल मिलाकर, **यह बलि से सृजन की अनवरत् प्रक्रिया के रूप में सृष्टि के मूल विचार का ही निषेध है । भवति की सकर्मक क्रिया का नित्य, परमाणु-सरीखे अस्ति(त्व)-रूपों में पतन घटित होता है ।**

नवज्योति लिखते हैं, " 'भवति' से बदलाव-मात्र का वो अल्पतम भाव मिलता है जो हर क्रिया को अनुप्राणित करता है । किसी बदलाव या परिवर्तन का **परमाणु-स्वरूप** है 'भाव' ।" वे वैशेषिक मीमांसक हैं, इसलिए प्रयुक्त परमाणु-स्वरूप शब्द भी वैशेषिक से ही प्रेरित है - और वैशेषिक दर्शन में परमाणु एक अविकारी, नित्य श्रेणी है ।

नवज्योति के अनुसार, " किसी दो असमान तत्त्वों/अवस्थाओं/दशाओं को किसी ख़ास संदर्भ में संलग्न करनेवाले रूप को भाव कहते हैं । यह दो असमान सत्ताओं को एक सम्बन्धपरक प्रसंग में, संस्पर्श में लाने का एक उपकरण है । इस रूप को मैं 'विराम-चिह्न' कहकर सम्बोधित करता हूँ ।" .. 'विराम-चिह्न एक ऐसे रूप का विचार है जिसकी विषय-वस्तु रूप के बाहर होती है । (प्रतिमान 11, पृ. 7) .. यह एक गैर-वस्तु है, एक रूप है जो वस्तुओं का संयोजन करता है । .. उन वस्तुओं पर इसका कोई नियंत्रण नहीं है जिनके बीच यह विराम-चिह्न लगाता है ।' (वही, पृ. 9)

चूँकि सारे तत्त्व/अवस्थाएँ/दशाएँ अपने-आप में बन्द, जड़ श्रेणियाँ हैं, इसलिए उन्हें सिर्फ़ **संलग्न** किया जा सकता है (जैसे हम कागज के अलग-अलग पन्नों को नत्थी करते हैं), उन्हें (अगल-बगल रखकर) **संबंधपरक प्रसंग** में देखा जा सकता है, या उन्हें एक-दूसरे के साथ **संस्पर्श** में लाया जा सकता है, लेकिन उनके बीच किसी **संक्रिया** को साकार नहीं किया जा सकता । इस प्रकार, नवज्योति का विराम-चिह्न एक निष्क्रिय श्रेणी है, किसी नवीन सृजन में सर्वथा असमर्थ - यह नाकतलेवाले अन्धकार का भी स्रोत है और बाह्य अन्धकारमयता के प्रति समर्पण का भी । बहरहाल, यह विराम-चिह्न की **एकमात्र** व्याख्या नहीं है, लेकिन उसकी अन्य व्याख्याओं में यहाँ नहीं जाऊँगा । वैसे छंदों में प्रयुक्त **यति** (विराम-चिह्न) ऐसी निष्क्रिय श्रेणी नहीं है, वह पदों पर मात्रात्मक सत्ता स्थापित करती है, और यह सत्ता ही उनकी लयात्मकता में साकार होती है ।[37]

इस प्रकार, **अस्ति और भवति के विरोधी प्रवर्ग की बुनियाद पर नवज्योति ने जो इमारत खड़ी की है, अस्ति और भवति के एक-दूसरे में रूपान्तरण की उपर्युक्त स्थिति में वह भहराकर गिर जाती है ।**

पंक्ति की अवधारणा : पंक्ति आरम्भिक वैदिक छंदों के सात प्रकारों में से एक प्रकार है - यह पंचपात् (पाँच पदोंवाला) छंद है जिसके प्रत्येक चरण (पद) में आठ वर्ण होते हैं । वैसे, यह ऋग्वेद का प्रचलित छंद नहीं है - ऋग्वेद की सबसे अधिक ऋचाएँ त्रिष्टुप तथा गायत्री छंद में हैं । तीसरा अधिक प्रचलित छंद जगती है ।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि **वैदिक छंद अविकारी, जड़ श्रेणियाँ नहीं हैं** - छंदों में एक या दो वर्ण न्यून या अधिक पाये जाते हैं । छंदों के अवांतर भेद भी मिलते हैं । पंक्ति का अवांतर भेद **प्रस्तार पंक्ति** कहलाता है । इतना ही नहीं, किसी एक छंद के कुछ पदों के साथ अन्य छंदों के पद मिलाकर **छंदःसांकर्य** भी उपस्थित किया जाता है जिसे **प्रगाथ** कहते हैं ।[38]

पंक्ति में पाँच पद हैं । यज्ञ में भी पाँच संघटक तत्व हैं (यज्ञकर्ता, उसकी पत्नी, उसका पुत्र, लौकिक और पारलौकिक सम्पत्ति), महासंहिताएँ भी पाँच हैं (अधिलोकमधिज्योतिषमअधिविद्यामधिप्रजमध्यात्मम् । ता महासंहिता इत्याचक्षते ।।)[39] .. जो भी अस्तित्वमान है, सबके पाँच कारक हैं । इस तरह, उपनिषदों में पाँच (पंक्ति) को विशेष महिमा प्रदान की गयी है - पंक्ति ही बलि (यज्ञ) है, पंक्ति में ही सारा कुछ समाहित है, जो इसे जान लेता है, वह सबकुछ प्राप्त कर लेता है । .. 'स एष पाङ्क्तो यज्ञः, .. पाङ्क्तमिदं सर्वं यदिदं किञ्च ; तदिदं सर्वमाप्नोति य एवं वेद ।।'[40]

इस प्रकार एक जीवंत वैदिक छंद उपनिषदों में आकर पवित्र बलि (यज्ञ) में रूपान्तरित हो जाता है । मीमांसकों को यज्ञ पसंद है, और इसलिए नवज्योति को पंक्ति । लेकिन देखिए उनके हाथों पंक्ति का क्या हश्र होता है । **पंक्ति की बलि पंक्ति को शून्यता में रूपान्तरित कर देती है ।** नवज्योति लिखते हैं : "पंक्ति पृथक वस्तुओं का एक क्रम में संयोजन है । 'पंक्ति' और 'पंक्टम' एक ही धातु √पंक्त से आते हैं । पंक्ति और कुछ नहीं बस दो (या अधिक) वस्तुओं को एक बिन्दु के द्वारा संयोजन में लाना ही है । .. यह एक ग़ैर-वस्तु है, एक रूप है जो वस्तुओं का संयोजन करता है । **यह एक शून्यता है, जो वास्तविकता की बनावट को प्रगट करता है ।** उन वस्तुओं पर इसका कोई नियंत्रण नहीं है जिनके बीच यह विरामचिह्न लगाता है । .. तर्कवाक्य और समुच्चय उस पदार्थ पर, जिसे वे अपने विषयवस्तु के रूप में प्रवेश की अनुमति देते हैं, उन पर एक तात्विकीय भार डालते हैं, उन पर सत्ता संबंधी शर्तों के कारण । इस प्रकार का तात्विकीय भार अंधकारमयता में परिवर्तित हो जाता है, जब इन रूपों का स्थानान्तरण या विस्थापन होता है । पश्चिम के सारे सारतत्ववादी दावे तर्कवाक्य रूप में हैं । पश्चिम के सारे

रचनावादीसंरचनावादी दावे समुच्चय रूप में हैं । स्थानान्तरण ग्रीको-युरोपियन उपस्थिति में एक अघोष व्यंजन की तरह है । ..” (प्रतिमान 11, पृ. 8-9)

इस प्रसंग में बस दो बातों की ओर ध्यान आकृष्ट करना ज़रूरी है : पहला, पंक्ति पृथक वस्तुओं का एक क्रम में महज़ संयोजन नहीं है । वह एक ऐसा विन्यास जो नये को जन्म देता है । वह बलि और सृजन की अनवरत् प्रक्रिया है । दूसरा, नवज्योति के पास वास्तविकता को प्रगट करने के दो ही माध्यम हैं - एक, दो या अधिक वस्तुओं का एक बिन्दु द्वारा **संयोजन** ; उन वस्तुओं पर इसका कोई नियंत्रण नहीं जिनके बीच यह विराम-चिह्न लगाता है । दूसरा, **तर्कवाक्य और समुच्चय** के जरिये वास्तविकता को प्रगट करना ; तर्कवाक्य और समुच्चय उस पदार्थ पर, जिसे वे अपनी विषयवस्तु के रूप में प्रवेश की अनुमति देते हैं, उन पर एक तात्विक भार डालते हैं, उन पर सत्ता-संबंधी शर्तों के कारण ।

बहरहाल, ग़ौर कीजिए । वास्तविकता को प्रगट करने के दोनों माध्यमों में बेचारा पदार्थ कोई क्रिया ही नहीं करता । वह या तो पंक्ति में बिन्दु के द्वारा संयोजित होता है, एक **पंगत** में बैठा दिया जाता है, या उसके ऊपर तर्कवाक्य और समुच्चय के जरिये एक तात्विक भार डाल दिया जाता है । इस प्रकार, वास्तविकता को प्रगट करने के जिन दो माध्यमों को वे परस्पर विरोधी प्रवर्गों के रूप में पेश कर रहे हैं, उन दो माध्यमों के बीच वस्तुतः पदार्थ के प्रति दृष्टि के मामले में **एकरूपता** है, एक आंतरिक एकता है । यह पदार्थ के प्रति वैशेषिक दृष्टि है ।

इसके अलावा, पदार्थों का एक पंक्ति में संयोजन स्वयं एक तार्किक क्रिया है - दरअसल, संयोजन एक तार्किक प्रवर्ग ही है । अपने आसपास बननेवाली किसी भी पंक्ति को देखिए - संयोजन की तार्किक संरचना आप आसानी से देख सकते हैं । दूसरी ओर, तर्कवाक्य और समुच्चय के जरिये पदार्थ पर डाले गये तात्विक भार की परिणति के रूप में हमें पंक्ति ही प्राप्त होती है ।

ख़ैर, पदार्थ को बेचारा समझने की भूल किसी को भी वास्तविकता को प्रगट करना तो दूर, उसके आसपास फटकने से भी वंचित कर देगी । पदार्थ को बिन्दु के द्वारा पंक्ति में संयोजित करने का कोई प्रयास पदार्थों की अन्तःक्रिया को आधार प्रदान करता है और यह अन्तःक्रिया पंक्तियों की नयी श्रृंखलाओं को जन्म देती है । इस तरह, **पदार्थ पंक्ति को शून्यता से, उसकी मृत्यु से, बलि से बचा लेता है, और उसे पुनः सृजनात्मक छंद का गौरव प्रदान करता है** । पदार्थों की ख़ासियत है कि अधिक देर तक पंगत में वे चुपचाप बैठे नहीं रह सकते ।

दूसरी तरफ, पदार्थों की दूसरी विशेषता यह है कि वे तात्विक भार डालने के प्रत्येक प्रयास को उसकी सीमा बता देते हैं - **तर्कवाक्यों और समुच्चय के जरिये पदार्थों की वास्तविकता प्रगट करने की सारी कोशिशें अस्थायी, अन्तरिम साबित होती है** । पदार्थों के गर्भ में अनन्त संभावनाएँ पलती हैं ।

स्थानान्तरण और विस्थापन की स्थिति में तात्विक भार की अंधकारमयता की काट भी इन्हीं संभावनाओं में निहित है ।

कुल मिलाकर, जैसा कि हम पहले भी देख चुके हैं, नवज्योति के दर्शन में सृजनात्मक अन्तःक्रिया, और इस अन्तःक्रिया से खुलनेवाली संभावनाओं के नये द्वारों की गुंजाइश लगभग अनुपस्थित है ।

9. मीमांसा और मास्टर ऐलगोरिद्म

पैट्रियॉटिक साइंस की कहानी खत्म होने के बाद नवज्योति बताते हैं, 'लोग थक गये । जो दूसरा कार्य था **गणित**, **तर्क** और **भाषा विज्ञान** आदि में वह आज भी चल रहा है । इसका कारण यह है कि यह कार्य वैचारिक है । ..' (पृ. 28)

हमलोग आज ऐलगोरिद्म-चालित डिज़िटल दुनिया के वासी हैं । कम्प्यूटर या स्मार्टफोन के माध्यम से ही हम आजकल अपना ज़्यादातर काम निपटाते हैं - मैन्युफैक्चरिंग, सेवा, व्यवसाय से लेकर अपने निजी जीवन के विभिन्न क्रियाकलापों में कम्प्यूटर/स्मार्टफोन ने निर्णायक स्थान ग्रहण कर लिया है । इन विशिष्ट क्रियाकलापों को सम्पन्न करने के लिए कम्प्यूटर/स्मार्टफोन विशिष्ट ऐलगोरिद्म का उपयोग करते हैं, और ऐलगोरिद्म **तर्क-गणित-भाषाविज्ञान** पर आधारित होते हैं । अपार आँकड़ों के बीच किसी विशिष्ट कार्य को सम्पन्न करने के लिए ज़रूरी आँकड़ों का श्रेणीकरण और आँकड़ों के बीच सह-संबंध कायम करना, सम्भावित विकल्प सुझाना आदि तार्किक प्रणाली पर आधारित होते हैं । संबंधित कार्यों की गुणवत्ता उन्नत करने के लिए इस तार्किक प्रणाली का निरन्तर परिष्कार ज़रूरी होता है । ऑनलाइन शॉपिंग करते, गेम खेलते, सर्च करते, पढ़ते-लिखते, संगीत सुनते, फ़िल्म देखते, सोशल मीडिया पर स्टेटस अपडेट करते, चैटिंग करते, फ़ोटो अपलोड करते, ब्लॉग लिखते आदि - हम हर समय किसी-न-किसी ऐलगोरिद्म का ही इस्तेमाल कर रहे होते हैं । बैंक, हवाईजहाज, कारखाने, व्यवसाय अब ऐलगोरिद्म से संचालित होते हैं । रोगियों के डेटाबेस से रोगों की शिनाख़्त भी अब ऐलगोरिद्म ही करते हैं । **कृत्रिम बुद्धि** (ए आई), तथा **वर्चुअल रियलिटी** (वी आर) **टेक्नोलॉज़ी** के क्षेत्र में हो रहे अनुसंधानों और प्रयोगों ने तर्क-भाषा-आधारित ऐलगोरिद्म के सतत् विकास को विज्ञान की अगली पंक्ति में ला खड़ा किया है । 'मशीन लर्निंग', 'लर्नर', 'इन्फ़ेरेंस इंजिन', 'फ़ॉरवर्ड और बैकवार्ड लर्निंग मैकेनिज़्म', 'डाटा साइंस', 'डाटा माइनिंग' आदि इस विज्ञान की प्रचलित शब्दावलियाँ हैं । मशीन लर्निंग की प्रमुख शाखाओं में से एक '**सिम्बोलिस्ट शाखा**' दर्शनशास्त्र, तर्कशास्त्र और मनोविज्ञान के विचारों का उपयोग करती है, जबकि '**एनेलॉगाइज़र शाखा**' गणित और मनोविज्ञान का ।

यहाँ मीमांसा की परम्परा के कुछ सूत्र और आधुनिक विज्ञान-टेक्नोलॉज़ी के बीच संवाद की कुछ संभावना बनती है । भारतीय तार्किक परम्परा में मीमांसक नैयायिकों तथा वैयाकरणों की भी एक भूमिका रही है ।

उदाहरण के लिए, (ख़ासकर भारतीय भाषाओं के संदर्भ में) 'सर्च', 'ट्रांसलेशन', और 'स्पीच-रिकॉग्नीशन' के ऐलगोरिद्म के विकास में मीमांसक-वैयाकरणों के कुछ सूत्र उपयोगी हो सकते हैं । वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त की कम-से-कम तीन शाखाएँ हैं - पहले अक्षर के उच्चारण, पहले शब्द और पूरे वाक्य के आधार पर अर्थ-ग्रहण के सिद्धान्त । वैदिक ऋचाओं का पाठ ध्वनि, शब्द और आंगिक भंगिमा के तालमेल पर आधारित है और इस संबंध में परम्परा से चला आ रहा अपना शास्त्र है । इसके अलावा, संस्कृत और अन्य भारतीय भाषाओं के महाकाव्यों तथा अन्य कृतियों में स्वर और व्यञ्जन अक्षरों के संभावित सह-संबंधों के मॉडेल विकसित किये जा सकते हैं । इसके डिज़िटल डेटाबेस का उपर्युक्त 'सर्च', 'ट्रांसलेशन' तथा 'स्पीच-रिकॉग्नीशन' ऐलगोरिद्म में उपयोग किया जा सकता है । हिन्दी मे तथा अन्य भारतीय भाषाओं में सटीक और बेहतर अनुवाद के ऐलगोरिद्म के विकास-परिष्कार के क्षेत्र में काफ़ी कुछ किया जाना है । किसी विशिष्ट कार्य को सम्पन्न करनेवाले ऐलगोरिद्म के कालक्रम में अन्य क्षेत्रों में उपयोग की संभावना भी बनी रहती है ।

यहाँ एक उदारहण दिया जा सकता है । 1913 मे रूसी गणितज्ञ **आन्द्रेइ मार्कोव** ने महान रूसी उपन्यासकार **पुश्किन** के क्लासिक काव्य-उपन्यास '**यूज़ीन ओनेगिन'** (Eugene Onegin) को आधार बनाकर स्वर और व्यञ्जन अक्षरों के संभावित सह-संबंधों का एक मॉडेल तैयार किया । उन दिनों उनका यह मॉडेल ज़्यादा चर्चित नहीं हुआ । बहरहाल, कम्प्यूटर युग में आकर इसे पर्याप्त ख्याति मिली और मशीन लर्निंग का यह अभिन्न अंग बन गया । यह मॉडेल अब '**मार्कोव चेन**' के नाम से जाना जाता है । जिस ऐलगोरिद्म 'PageRank' ने गूगल को जन्म दिया, वह मार्कोव चेन ही है । 'गूगल ट्रांसलेट', अथवा मशीन अनुवाद-प्रणालियों के पीछे भी यही मॉडेल है । 'स्पीच-रिकॉग्नीशन' प्रणाली '**सिरि**' (Siri) 'हिडन मार्कोव मॉडेल' (एच एम एम) के आधार पर ही काम करती है । अपने मोबाइल पर जब भी हम बात कर रहे होते हैं तो हम इसी मॉडेल का इस्तेमाल कर रहे होते हैं । गणित समेत अन्य कई क्षेत्रों में भी इसका उपयोग होता है ।[41]

दरअसल, मशीन लर्निंग के क्षेत्र में आजकल भारतीय विचार-परम्परा की विभिन्न तार्किक प्रणालियों का उपयोग करने की दिशा में अनुसंधान चल रहा है जिसमें कुछ भारतीय शोधकर्ता भी शामिल हैं - हालांकि इनमें से ज़्यादातर अमेरिकी विश्वविद्यालयों तथा संस्थानों में कार्यरत हैं । युरोप में जहाँ **अरस्तू** की तीन पदोंवाले तर्कवाक्य प्रचलित थे, वहीं भारत में पाँच पदोंवाले (पंचावयवयुक्त) तर्कवाक्य । मशीन लर्निंग से संबंधित रचनाएँ पढ़ने पर आपको अनेक भारतीय बौद्ध, जैन, नव्य-न्याय से जुड़े दार्शनिकों और उनकी तार्किक प्रणालियों का ज़िक्र मिल जाएगा । उनमें अरस्तू ही नहीं, बल्कि दिग्नाग (बौद्ध), धर्मकीर्ति (बौद्ध), **सामंतभद्र** (जैन), गंगेश (नव्य-न्याय) आदि के नाम और उनकी तार्किक प्रणालियों का वर्णन, उनकी विशिष्टता तथा उन तार्किक प्रणालियों के आधार पर ऐलगोरिद्म के विकास की संभावनाओं पर

कई आलेख तथा शोध-पत्र मिलेंगे । इस मामले में भी मीमांसक नैयायिकों की तुलना में बौद्ध-जैन-नव्य-नैयायिक काफ़ी आगे हैं । यहाँ इन तार्किक प्रणालियों के भेदों और उनके तुलनात्मक अध्ययन में नहीं जाया जा सकता है । सिर्फ़ एक तार्किक प्रणाली का ज़िक्र ज़रूरी लगता है - वह है जैनियों के **स्यादवाद** पर आधारित **सात पदों वाली तार्किक प्रणाली** । 600 ई. के आसपास जैन विचारक सामन्तभद्र द्वारा प्रस्तावित यह प्रणाली **फज्जी** (fuzzy and multi-valued) तार्किक प्रणालियों के विकास के लिहाज़ से अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी जा रही है । लावारिस आँकड़ों को सामंतभद्र की प्रणाली में संभावित सह-संबंधों का कोई ठौर-ठिकाना **स्यात्** मिल सकता है ।

बहरहाल, यहाँ हमारा उद्देश्य ऐलगोरिद्म-संबंधी अध्ययनों में मीमांसा और अन्य भारतीय विचार-तर्क प्रणालियों के विवरण तथा उनके संभावित योगदान का ज़ायज़ा लेना नहीं है । मेरा उद्देश्य **मीमांसा** और '**मास्टर ऐलगोरिद्म**' के वैचारिक सह-संबंध को सामने लाना है । **प्रत्येक विचार-प्रणाली में सार्विकता की, सार्विक व्याप्ति की एक अन्तर्निहित प्रवृत्ति होती है जो उसे एकमात्र विचार-प्रणाली का दावेदार होने की ओर ले जाती है । ऐलगोरिद्म के साथ भी यही बात है ।**

ऐलगोरिद्म के क्षेत्र में काम करनेवाले कुछ वैज्ञानिक आजकल **मास्टर ऐलगोरिद्म** के विकास में लगे हैं । पहले तो मुझे इस मास्टर शब्द पर ही आपत्ति है । इसकी जगह मैं '**मदर**' ऐलगोरिद्म का प्रयोग करना चाहूँगा । मास्टर शब्द 'मास्टर-स्लेव' (मालिक-दास) के सामाजिक संबंध की याद दिलाता है, जबकि मदर अथवा मातृ शब्द प्राकृतिक प्रजनन अथवा पुनरुत्पादन-शक्ति की ।

बहरहाल, देखिए **पेड्रो डोमिंगोस** इस मास्टर ऐलगोरिद्म को किस रूप में परिभाषित करते हैं : "**एक एकल, सार्विक ऐलगोरिद्म के द्वारा भूत, वर्तमान और भविष्य का सारा ज्ञान हासिल किया जा सकता है ।** मैं इस लर्नर को मास्टर ऐलगोरिद्म की संज्ञा देता हूँ । यदि ऐसा ऐलगोरिद्म संभव है, तो उसका आविष्कार सर्वकालिक महानतम वैज्ञानिक उपलब्धियों में से एक होगा । दरअसल, मास्टर ऐलगोरिद्म हमारा आखिरी आविष्कार होगा, क्योंकि एक बार अस्तित्व में आ जाने के बाद वह स्वयं आविष्कार की जा सकनेवाली हर चीज का आविष्कार करता जाएगा । हमें बस उसे पर्याप्त मात्रा में उपयुक्त डाटा प्रदान करना है, संबंधित ज्ञान की खोज वह ख़ुद कर लेगा । .. क्रमविकास (इवोल्यूशन) एक ऐलगोरिद्म ही है । .. ईश्वर ने प्रजातियों का सृजन नहीं किया, बल्कि प्रजातियों के सृजन के ऐलगोरिद्म की रचना की । .."[42]

पूरी सृष्टि एक मास्टर ऐलगोरिद्म से संचालित है - इस सृष्टि को ईश्वर की ज़रूरत नहीं । अगर इसमें ईश्वर को लाना भी है तो उसे बस इस ऐलगोरिद्म के रचयिता के रूप में ही लाया जा सकता है ।

मास्टर ऐलगोरिद्म के वर्तमान रचयिता ख़ुद ईश्वर की भूमिका में आना चाहते हैं - पुराने ईश्वर की मृत्यु की घोषणा तो **नीत्शे** उन्नीसवीं सदी के अन्त में ही कर चुके थे ।

इसी तरह के दावे गणित और भाषा-व्याकरणवाले दार्शनिक भी पहले कर चुके हैं । दुनिया गणित के नियमों से या व्याकरण के सूत्रों से संचालित है । यहाँ मैं और विवरण में नहीं जाऊँगा - मीमांसा के संदर्भ में पाठक इस विचार-प्रणाली से पहले परिचित हो चुके हैं । कुल मिलाकर, इस विचार-प्रणाली में मूल रूप से यह दावा किया जाता है कि सृष्टि की कुंजी उनके हाथ लग गई है - शब्द-मीमांसकों के लिए वह कुंजी **वेद** है, ऐलगोरिद्म-मीमांसकों के लिए वह **मास्टर ऐलगोरिद्म**, गणित-तर्क-मीमांसकों के लिए **गणित के समीकरण**, और भाषा-व्याकरण-मीमांसकों के लिए **व्याकरण के सूत्र** । इस विचार-प्रणाली की परिणति व्यक्ति के स्तर पर 'श्रेष्ठता के अहंकार' में, और सामाजिक तौर पर 'सर्वसत्तावादी' अभियानों में होती है । जिनके हाथों में संसार की कुंजी है, वे उसी कुंजी से संसार का संचालन करना चाहते हैं । इतिहास ऐसे कई सर्वसत्तावादी अभियानों का गवाह रहा है - उनके उत्थान और हश्र का भी ।

विद्यते : 'अस्ति' और 'भवति' के बीच एक क्रिया 'विद्यते' भी है (कुछ ख़ास संदर्भों में हम यहाँ 'वर्तते' को भी रख सकते हैं) । नवज्योति लिखते हैं, 'विद्यते उस स्थान पर लागू नहीं होता जहाँ मृत्यु का भाव है, जहाँ परिवर्तन से अभाव की उत्पत्ति हो रही है ।' (प्रतिमान 11, पृ. 7) विद्यते से ही विद्यमान और भाव-प्रत्यय ता लगाने से विद्यमानता (**प्रेज़ेंस**) बनता है ।

बहरहाल, विद्यते (प्रेज़ेंस) उस स्थान पर लागू होता है, जहाँ सामयिक रूप से **यथार्थ भाव** स्थगित (मृत) हो जाता है, जहाँ परिवर्तन से अभाव नहीं, बल्कि **वर्चुअल** अथवा **माया-भाव** की उत्पत्ति हो रही हो । जब आप किसी कर्मकाण्ड में पूरी तरह लीन हो जाते हैं, तो सामयिक रूप से आपका यथार्थ जगत स्थगित हो जाता है, और आप एक वर्चुअल अथवा माया जगत में उपस्थित होते हैं - मंत्रों की ध्वनियों के बीच हवि देते समय आप वरुण, इन्द्र, अग्नि आदि देवों और पितरों की संगत में होते हैं, विधि-विधान में छोटी-सी चूक से आप किसी अनिष्ट की आशंका से भयभीत हो जाते हैं । इसकी चरम अभिव्यक्ति आप किसी आत्मा के वशीभूत ओझा-गुनियों के व्यवहार में देख सकते हैं । और अगर आप जगत को मिथ्या और देव-पितरों की संगतवाली वर्चुअल दुनिया को ही सत्य मानते हैं, उस दुनिया में ही रम जाते हैं तो आपका मस्तिष्क भी उसी अनुरूप ढल जाता है और आपका शरीर तदनुरूप प्रतिक्रिया देने लगता है । (इसकी त्रासद परिणति तथाकथित महाप्रलय का मुहुर्त निश्चित कर कुछ गुप्त सम्प्रदाय के लोगों द्वारा सामूहिक आत्महत्या करने की घटनाओं में होती है ।) इस तरह कर्मकाण्डों के जरिये हमारी चेतना हैक होकर जिस प्रेज़ेंस में दाख़िल होती है, उससे यथार्थ जगत में अभाव की उत्पत्ति तो होती है, लेकिन यह मृत्यु का भाव नहीं, बल्कि सामयिक रूप से यथार्थ-भाव का स्थगन है । (वैसे हम सब अपने यथार्थ जगत में, अपने रोजमर्रे के जीवन में, विभिन्न मात्रा में अपनी-अपनी माया-दुनिया भी साथ लिये चलते हैं ।)

वर्चुअल रियलिटी टेक्नोलॉज़ी (वी आर टेक्नोलॉज़ी) के आधुनिक विज्ञान में प्रेज़ेंस को परिभाषित करते हुए W.I.R.E.D के वरिष्ठ सम्पादक **पीटर रुबिन** लिखते हैं : 'वर्चुअल रियलिटी एक ऐसा कृत्रिम वातावरण है जिसमें आप पूरी तरह खो जाएं और आपको यह विश्वास हो जाए कि आप सचमुच उसी वातावरण में रह रहे हैं । .. यह कृत्रिम वातावरण कुछ भी हो सकता है - कोई फ़िल्म, कोई फ़ोटोग्राफ़, कोई चित्र, कोई विडियो गेम, शर्त सिर्फ़ यह है कि यह कोई ऐसी चीज होनी चाहिए जहाँ आप ख़ुद शारीरिक रूप से उपस्थित न हों ।'[43] .. इस कृत्रिम जगत में जिसमे आप पूरी तरह खो जाते हैं, आपकी इन्द्रियाँ भी ग़फ़लत का शिकार हो जाती हैं, आपके मस्तिष्क को अपने अनुभव के सच्चे होने की सूचना देती हैं, और आपका मस्तिष्क शरीर को तदनुरूप प्रतिक्रिया देने के निर्देश देता है - इस कृत्रिम जगत के किसी डरावने दृश्य को देख कर आपके रोंगटे खड़े हो जाते हैं और आप पसीने से तरबतर, जबकि यथार्थ जगत में आप 'ओकुलस रिफ्ट'[44] (Oculus Rift, वी आर हेडसेट) पहने अपने सोफ़े पर बैठे होते हैं ।

एक कृत्रिम जगत में इस तरह रम जाना कि आपका मस्तिष्क भी धोखा खा जाए 'प्रेज़ेंस' कहलाता है । यह 'प्रेज़ेंस' वी आर की बुनियाद है । सेवा, व्यवसाय और मेन्युफ़ैक्चरिंग के क्षेत्र में इसके उपयोग की प्रक्रिया शुरू हो चुकी है । रियल इस्टेट कम्पनियाँ इस वी आर टेक्नोलॉज़ी के जरिये अपने ग्राहकों को हजारों मील दूर स्थित घरों में रहने का अनुभव करा सकती हैं । अनेक शारीरिक तथा मानसिक बीमारियों के इलाज़ में भी इसकी सकारात्मक भूमिका मानी जाती है । बहरहाल, इसके उपयोग तथा दावों की भी एक अतिवादी स्थिति है । इस 'प्रेजेंस' में गेम खेलते बच्चे जब 'आई क्विट' कह कर आत्महत्या कर बैठते हैं, तो आप इस 'विद्यते' की भयावहता का अंदाज़ा लगा सकते हैं ।

बहरहाल, वास्तविकता यह है कि सामूहिक रूप से भी हम अपनी चेतना की हैकिंग के समय-समय पर शिकार होते रहे हैं । ऑडियो-विज़ुअल्स, टीवी, गैज़ेट्स, एप्स, सोशल मीडिया, ब्राण्डों-विज्ञापनों और बाज़ार की चकाचौंध, टॉप हेडलाइंस और ट्रेंडिंग टॉपिक्स की 24x7 घेरे के बीच हम सामूहिक रूप से इस प्रेज़ेंस में दाख़िल होते रहते हैं, और अनेक तो इसके मोहपाश में पहले ही जकड़े जा चुके हैं । सामूहिक रूप से चेतना की हैकिंग कर कृत्रिम वातावरण रचने और हमें प्रेजेंस में भागीदार बनाने की सचेत कोशिश भी की जाती है, और यह तेजी से विस्तार पा रहा अरबों डॉलर का व्यवसाय है - ख़ासकर चुनावों के दिनों में या उन्मादी भीड़ इकट्ठा करने में । नयी डिज़िटल टेक्नोलॉज़ी ने हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश को पूरी तरह बदल कर रख दिया है । यह स्थिति इसलिए और भी चिन्तनीय हो गई है क्योंकि इस टेक्नोलॉज़ी पर कुछेक महाकाय टेक कम्पनियों ने लगभग एकाधिकार कायम कर रखा है ।

आज हमारा समाज **देवतुल्य माल** (उपभोक्तावाद), **देवतुल्य पूँजी** (वित्तीय पूँजी), **देवतुल्य ऐलगोरिद्म** (मास्टर ऐलगोरिद्म), और **देवतुल्य शब्द** (मीमांसा) की चतुष्शक्ति के आक्रामक सर्वसत्तावादी अभियान

की चपेट में है । माल-मुनाफ़ा-मास्टरऐलगोरिद्म-मीमांसा के सम्मिलित सर्वसत्तावादी अभियान के तहत हमारी चेतना को हैक कर हमें निष्क्रिय उपभोक्ता और आक्रामक भीड़ में बदला जा रहा है ।

10. नव-मीमांसा और हिन्दुत्व : आधार-आधेय

विचरण में नवज्योति के कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्षों तथा टिप्पणियों पर हम यहाँ सरसरी तौर पर निग़ाह डाल सकते हैं :

1. हमें मीमांसा की परम्परा में फिर से विधायी शक्ति लाना है ।

2. मीमांसा की परम्परा के साथ अन्याय हुआ है । इस अन्याय के लिए जवाहरलाल नेहरू को जिम्मेवार ठहराया गया है, और घुमाफिरा कर महात्मा गांधी को । नेहरू के बारे में एक अत्यन्त सतही टिप्पणी - 'अगर नेहरू देश के प्रधानमंत्री बनने के स्थान पर इलाहाबाद के मेयर बनते, तो भारत की स्थिति कहीं बेहतर होती' - उन्हें इतनी पसंद आयी कि इस छोटे से साक्षात्कार में इसका दो बार ज़िक्र किया गया है (पृ. 27 और 35) ।

इसी तरह महात्मा गांधी के बारे में भी कई सतही टिप्पणियाँ हैं । कुछ का विवरण हम पहले दे चुके हैं । एक और निहायत सतही टिप्पणी है : 'सन् 42 तक गांधीजी ने तीन-चार बार खीझ कर कपड़ा जलाने का कार्यक्रम बनाया । टैगोर ने उस पर आपत्ति ली । जले कपड़े पर हिन्दुस्तान कैसे खड़ा होगा ! .. पर सन् 1942 के बाद यह पूरा देश जले हुए कपड़े पर ही खड़ा है । अगर जले हुए कपड़े पर भारत खड़ा होगा, तो उसका क्या विधान बनेगा ?' (पृ. 35)

गांधी और नेहरू की नीतियों की आलोचना तो की ही जा सकती है, अनेक विचारक अपनी-अपनी दृष्टि से ऐसा करते भी रहे हैं । नवज्योति उनकी आलोचना इस आधार पर करते हैं कि वे मीमांसक नहीं थे, सामी विचार के थे ।

पूरे साक्षात्कार में नवज्योति जो-जो नाम लेते हैं, उसके पीछे ख़ास मक़सद है । कुछ नाम तो बिना किसी ख़ास प्रसंग के उछाल दिये गये हैं, जैसे भगत सिंह का नाम (पृ. 57) । लेकिन उनके नाम देने के पीछे एक राजनीतिक उद्देश्य है । दरअसल, नेहरू तथा गांधी को कटघरे में खड़ा करने के लिए हिन्दुत्ववादियों के पास अपने किसी 'योग्य पात्र' का नाम है ही नहीं, इसलिए उन्हें ऐसा करना पड़ता है । उनके पास अध्येताओं की घोर कमी रही है, और इस कमी को पूरा करने के लिए आज तक वे राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं के बीच के मतभेदों का लाभ उठाकर अपने प्रमुख वैचारिक-राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियों पर निशाना साधने की कोशिश करते हैं । यह कार्यनीति भी अत्यन्त कमजोर और हास्यास्पद है, क्योंकि जिन नामों

का वे सहारा लेते हैं उनमें से कोई भी मीमांसक नहीं था । हिस्ट्री और इतिहास के प्रसंग में रोमिला थापर का नाम (पृ. 60) लाने का मक़सद तो जगज़ाहिर है ।

3. संविधान को अधूरा बताकर उसे ख़ारिज़ करना । रेखांकन में सुभाष चन्द्र बोस के चित्र होने पर यह टिप्पणी की गई है कि नंदलाल बोस के कारण यह चित्र वहाँ है - इशारा यह कि नेहरू की चलती तो यह चित्र वहाँ नहीं होता । (पृ. 47)

4. स्वतंत्रता आन्दोलन को ख़ारिज़ करना (संबंधित उद्धरण पहले दिये जा चुके हैं) । स्वतंत्रता आन्दोलन में न अध्येताओं की कमी थी और न कारीगरों की । पारम्परिक अध्येताओं यानी पण्डितों से उनका मतलब अगर हिन्दुत्व के पैरोकारों से है, तो बात सही है । लेकिन तब उन 'अध्येताओं' से ही पूछा जाना चाहिए कि वे क्यों नहीं थे, उन्हें किसने रोका था ? नवज्योति बुनकरों तथा मुस्लिम कारीगरों आदि की चर्चा करते हैं, तो उन्हें ऑल इंडिया मोमिन कॉन्फ़ेरेंस की स्वतंत्रता आन्दोलन में भूमिका का पता करना चाहिए था ।

ऐसे ही कुछ प्रसंगों का उल्लेख पहले किया जा चुका है । उपर्युक्त विवरण से **कोई भी व्यक्ति नवज्योति सिंह की टिप्पणियों और हिन्दुत्व के पीठाधिकारियों के वक्तव्यों में साम्य देख सकता है** । दरअसल, औपनिवेशिक काल में भारत में जितनी वैचारिक प्रवृत्तियाँ सक्रिय थीं, उनमें हिन्दुत्व की आधुनिक विचारधारा के पास ही परम्परा का सबसे कमजोर सूत्र था । तब (1920-30 के दशक के) युरोप में नस्लवादी-फ़ासीवादी शक्तियाँ उफान पर थीं, और हिन्दुत्व के प्रवर्तकों का ज़ोर उनके नकल पर ज़्यादा था (यहाँ तक कि वेशभूषा के स्तर पर भी) । अनेक मीमांसक भी हिन्दुत्व की राजनीतिक परियोजना से सहमत नहीं थे और वे इसे भारतीय समाज के लिए एक विघटनकारी प्रवृत्ति मानते थे । कर्मकाण्ड, रीति-रिवाज़ आदि उनके लिए निजी दायरे की चीजें थीं और वे बदली हुई स्थितियों में सुधारों के पक्षपाती थे । आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती ने ब्राह्मण-ग्रंथों को वेद का हिस्सा मानने से ही इन्कार कर दिया था । भारत जैसे प्राचीन देश में एक वृहत्तर परिवार के दायरे में ही विभिन्न मतावलम्बी रहते आये हैं - एक ही परिवार में मीमांसक से लेकर नास्तिक तक । यदि परिवार में मीमांसा को विधायक शक्ति प्रदान कर दी जाए, तो वह परिवार ही विघटन का शिकार हो जाएगा ।

साथ ही, यही वह समय था जब ब्राह्मणवादी समाज-व्यवस्था को, मीमांसा की वैचारिकता को पेरियर रामास्वामी नायकर और बाबासाहब आम्बेडकर के वैचारिक-सामाजिक तथा राजनीतिक आन्दोलनों से कड़ी चुनौती मिल रही थी ।

नवज्योति सिंह द्वारा हिन्दुत्व की राजनीतिक परियोजना को दार्शनिक आधार देने की यह कोशिश भी बिल्कुल घिसी-पिटी, पुरानी लीक पर चलती है । वैसे, प्राचीन काल से ही मीमांसा का दार्शनिक पक्ष

काफ़ी कमजोर रहा है । इस पर काफ़ी कुछ हम पहले बता चुके हैं । **हिन्दुत्ववादियों के हिन्दू राष्ट्र का सार क्या है ?** कट्टर **मीमांसा के अधिनायकत्ववाला राष्ट्र - मीमांसा को विधायी शक्ति प्रदान करना, देवतुल्य मीमांसकों का राजपीठ तथा अन्य पीठों पर नियंत्रण, हिन्दुओं और अन्य भारतीयों पर मीमांसकों का अधिनायकत्व ।** नवज्योति इस साक्षात्कार में इसी मीमांसा के अधिनायकत्व को वैचारिक वैधता प्रदान करने की असफल कोशिश करते हैं ।

भारतीय तार्किक परम्परा में विरोधी पक्ष के तर्क के दोषों को उजागर कर उन्हें पराजित करने के अनेक संदर्भ हैं - तर्क के ऐसे दोषों (निग्रह-स्थानों) की संख्या बाइस[45] बताई गई है । नवज्योति के तर्कों में (उनमे से) कई दोषों का मैंने अपने विवरण में उल्लेख किया है - जैसे, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञाहानि, पुनरुक्त, अप्रतिभा, निरर्थक, आदि ।

मई 2014 के बाद से ऐसा वातावरण बनाने की मुहिम चलाई जा रही है मानो प्राचीन भारत की गौरवशाली उपलब्धियों को पहली बार उजागर किया जा रहा हो (हालांकि इस प्रक्रिया में जो चीज उजागर की जाती है, वह प्रायः हास्यास्पद साबित होती है) । सच्चाई यह है कि मानवजाति के ज्ञानकोश में प्राचीन भारत के योगदान पर सबसे ज़्यादा, प्रामाणिक और गंभीर अध्ययन-अनुसंधान मीमांसकों ने नहीं, बल्कि उदारवादी-वामपंथी बुद्धिजीवियों ने किया है और इसमें पश्चिम के भी अनेक गणमान्य अध्येताओं की काफ़ी महत्वपूर्ण भूमिका रही है । वैदिक साहित्य, धर्मशास्त्रों-स्मृतियों, इतिहास-पुराण, दर्शन से लेकर प्राचीन भारतीय गणित, खगोलविद्या, आयुर्वेद, योग, मूर्तिकला, वास्तुकला, चित्रकला, कामशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, नृत्य-संगीत, रहन-सहन, वेशभूषा आदि विषयों पर गंभीर शोध-अध्ययनों में इन्हीं विद्वानों ने जीवन-पर्यन्त अपने श्रमसाध्य कार्य के जरिये विपुल साहित्य की रचना की है । प्राचीन पाण्डुलिपियों के उद्धार, उनके संरक्षण-संवर्धन में भी उन्होंने अनुकरणीय भूमिका निभायी है ।

नवज्योति के विचारों के खण्डन में मैंने सचेत रूप से किसी पश्चिमी विचारक को उद्धृत नहीं किया है - यह सिर्फ़ यह दिखाने के लिए कि प्राचीन भारतीय विचार-परम्परा में ही मीमांसा की भरपूर आलोचना मौज़ूद है । वैसे, भारतीय विचार परम्पराओं के अध्ययन-अनुसंधान में पश्चिमी लेखकों के योगदान की अवहेलना उचित नहीं है (पश्चिम के या किसी भी देश के सारे लेखकों को एक श्रेणी में डाल देना भी सही नहीं है) । नवज्योति की टिप्पणियाँ चूँकि ज़्यादातर प्राचीन काल से ही संबंधित हैं, इसलिए इस मामले में भी मैंने सारे उदाहरणों को प्रायः प्राचीन काल के दायरे में ही रखा है । वैसे, भारतीय विचार परम्परा में मध्य तथा आधुनिक काल के योगदान की अवहेलना उचित नहीं है ।

11. उपसंहार

श्री **उदयन वाजपेयी** इस साक्षात्कार में निराश करते हैं । बातचीत ठीक-ठाक शुरू होती है, लेकिन आगे उदयन ज़िरह के महत्वपूर्ण मौके गंवाते जाते हैं, और अन्त आते-आते तो स्थिति कथावाचक और मंत्रमुग्ध श्रोता की बन जाती है । साक्षात्कार लेने और देनेवाले का फ़र्क मिट जाता है - साक्षात्कारकर्ता अपनी 'स्वायत्तता' का समर्पण कर देता है और इस तरह साक्षात्कार-कर्म के धर्म का निर्वाह करने से चूक जाता है । हाल ही में 'वाक्' में प्रकाशित उनके लेख 'देशभक्ति और राष्ट्रवाद' को ही आधार बना कर देखें तो ज़िरह के कई सवाल तो बनते ही थे । वैसे यह स्थिति कोई अप्रत्याशित नहीं थी, अपनी 'प्रस्तावना' में वे इसका संकेत कर देते हैं ।

मैं यह विश्वास करना नहीं चाहता कि श्री **अशोक वाजपेयी** ने बिना किताब पढ़े 'आमुख' लिखा है । इसलिए अन्तिम तीन वाक्यों को पढ़कर मुझे हैरानी हुई - 'वे (नवज्योति सिंह) नये प्रश्न उठाते हैं, नयी जिज्ञासा उकसाते हैं और विचार की नयी राहें खोजने की ओर बढ़ते हैं । हिन्दी वैचारिकी की जो शिथिल स्थिति है उसके संदर्भ में यह पुस्तक एक विनम्र इज़ाफ़े की तरह है । उम्मीद है कि यह विचार-विचरण पाठक पसंद करेंगे ।' (पृ. 8) बहरहाल, नवज्योति नये प्रश्न **नहीं** उठाते हैं, नयी जिज्ञासाएँ **नहीं** उकसाते और विचार की नयी राहें खोजने की ओर **नहीं** बढ़ते हैं .. यह पुस्तक एक विनम्र इज़ाफ़े की तरह तो **बिल्कुल नहीं** है .. और यह **विचार-विचरण तो है ही नहीं** । 'आमुख' में इन तीन पंक्तियों के पहले उन्होंने जो लिखा है (और अच्छा लिखा है), सत्याग्रहडॉटकॉम पर वे जो लिख रहे हैं, तथा वे जो लिखते रहे हैं, उन सब से भी उनका यह निष्कर्ष मेल नहीं खाता है ।

आवरण पर रज़ा की बिन्दु सीरीज़ का चित्र किताब के कथ्य से मेल नहीं खाता । ब्लैकबोर्ड पर किसी बिन्दु अथवा वृत्त पर, मोमबत्ती या दीये की लौ पर, या बाल अरुण पर त्राटक के फलस्वरूप (आँखें बंद करने पर) अपने भ्रू-मध्य में ध्वनियों, रंगों तथा आकृतियों के उभरते-मिटते अनन्त आनन्द-लोक में विचरणे के बजाए यदि आप किसी एक वृत्त के बंदी होकर रह जाते हैं तो आपके त्राटक में त्रुटि है और आपको अभ्यास जारी रखना चाहिए । किताब का कथ्य एक बंद वृत्त का कथ्य है, रज़ा की बिन्दु सीरीज़ की चित्रकला में आकृतियों और रंगों के अनवरत् अनावृत होते संसार का नहीं ।

अन्त में, यह किताब विचार-विचरण तो है ही नहीं - भारतीय नैयायिकों की भाषा में यह **विचार-चक्रिक**[46] है । इसलिए किताब का शीर्षक 'विचरण' एक चक्रिक विमर्श का भ्रामक महिमामण्डन है ।

****

टिप्पणियाँ

⁕ उदयन वाजपेयी (2018), *विचरण: नवज्योति सिंह से संवाद*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.

[1] डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल (1964) : 195.

[2] मोहनलाल महतो 'वियोगी' (1958) : 3-4.

[3] अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् । अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ।। पद्मपुराण में सूत्र की परिभाषा (मध्वाचार्य द्वारा *ब्रह्मसूत्र* की अपनी टीका में उद्धृत) । राधाकृष्णन (1941) : 22. बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन (175 ई. के आसपास) को कारिका शैली का प्रवर्तक माना जाता है । उनकी रचना *विग्रहव्यावर्त्तनी* कारिका शैली में है - इसमें कुल 72 कारिकाएँ हैं । *माण्डुक्य उपनिषद्* पर **गौड़पाद** (500 ई.)) की टीका भी कारिका शैली में है । दोहा शैली के आरम्भिक प्रवर्तकों में **सरहपा** (आठवीं सदी का पूर्वार्ध) का नाम लिया जा सकता है ।

[4] *छांदोग्य उपनिषद्* (1983), VII.1.3 : 574. सम्बन्धित अंश इस प्रकार है : 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति ।।3।।' (जो बाहर आकाश में है, वही हृदय के आकाश में भी है - इसके अन्दर द्युलोक भी है और पृथ्वी भी, अग्नि और वायु भी, सूर्य और चन्द्र, विद्युत और नक्षत्र सभी कुछ । जो कुछ भी यहाँ है अथवा नहीं है, वह सब कुछ उसमें समाहित है ।)

[5] *छांदोग्य उपनिषद्* (1983), III.14.1 : 208, *बृहदारण्यक उपनिषद्* (1951), 1.4.10 : 59-60.

[6] वही, V.10.7 : 373. 'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां / योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं / वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां / योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा ।।7।।' मीमांसा में शूद्रों के लिए यज्ञ-कर्मकाण्डों में भाग लेना निषिद्ध है । वैसे, इसके कुछ अपवाद भी कहीं-कहीं मिलते हैं - रथकारों को अग्न्याधान बलि की स्वीकृति दी गई है, और निषादों को रौद्रयज्ञ की । इसके विपरीत तंत्रशास्त्र में शूद्रों, स्त्रियों सभी को तंत्रज्ञान का अधिकारी माना गया है : 'अन्त्यजा अपि ये भक्ता नामज्ञानाधिकारिणः / स्त्रीशूद्रब्रह्मबन्धूनां तंत्रज्ञानेऽधिकारिता ।' (*व्योमसंहिता*) ; राधाकृष्णन (1941) : 737. नाट्यशास्त्र (पञ्चम वेद) के दरवाज़े भी शूद्रों के लिए खोल दिए गये थे ताकि विभिन्न वर्णों को उनके कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान दिया जा सके ('न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु । तस्मात् सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम् ।।') । अभिनवगुप्त लिखते हैं : 'तेन अनधिकृतानामपि सुकुमाराणां व्युत्पत्तिदायि नाट्यम् । श्रुतशास्त्राणामपि संवादादविचलकार्याकार्यविवेक सिद्धिरिति ।।' इस प्रकार (वेदशास्त्रादि) अनधिकारियों को भी शिक्षा देनेवाला (यह) नाट्य है । और उसके द्वारा शास्त्रों को जाननेवालों को भी (अपने) शास्त्रीय ज्ञान की सम्पुष्टि हो जाने से उनका कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान सुदृढ़ हो जाता है । *हिन्दी अभिनवभारती* (1973) : 78-79.

[7] मीमांसा की वंशावली संक्षेप में इस प्रकार है: जैमिनि के *मीमांसा-सूत्र* पर कई लोगों (यथा, भर्तृमित्र, भवदास, हरि और उपवर्ष) ने टीकाएँ लिखीं, लेकिन वे अब उपलब्ध नहीं हैं । *मीमांसा-सूत्र* के अलावा जैमिनि की एक और रचना *संकर्षणकाण्ड* (जिसे *देवताकाण्ड* भी कहा जाता है) मिलती है । बहरहाल, *मीमांसा-सूत्र* पर सबसे उल्लेखनीय टीकाकार **शबर** हैं जिनके *भाष्य* को मीमांसा के इतिहास में काफ़ी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है ।

शबर के बाद सबसे प्रमुख नाम **कुमारिल भट्ट** का है (इनका मत भट्टमत के नाम से जाना जाता है) । वे **भवभूति** (620-680 ई.) के गुरु थे, इसलिए उनका काल 590-650 ई. के बीच माना जाता है । कुमारिल ने तीन भागों में *मीमांसा-सूत्र* और *भाष्य* पर टीकाएँ लिखीं । पहला भाग *श्लोकवार्तिक* मीमांसा-सूत्र के पहले अध्याय के पहले भाग की व्याख्या है । उनकी दूसरी रचना *तंत्रवार्तिक* में *मीमांसा-सूत्र* के तीसरे अध्याय तक की विषय-वस्तु को शामिल किया गया है । *मीमांसा-सूत्र* के शेष अध्यायों पर उनकी तीसरी रचना *टुप्टीका* में विचार किया गया है ।

जैमिनि, शबर और कुमारिल के बाद चौथा नाम **मंडन मिश्र** का आता है जो कुमारिल के ही अनुयायी थे । मंडन मिश्र मीमांसा पर दो ग्रंथों - *विधिविवेक* और *मीमांसानुक्रमणि* - के रचयिता हैं । इसके बाद नाम आता है **वाचस्पति मिश्र** (850 ई. के आसपास) का जिन्होंने अपनी *न्यायकणिका* में मंडन मिश्र के *विधिविवेक* की व्याख्या की है । कुमारिल की रचना पर कई लोगों ने टीकाएँ लिखीं जिनमें कुछ प्रमुख नाम इस प्रकार हैं - *श्लोकवार्तिक* पर *काशिका* के नाम से लिखी टीका के लेखक **सुचरित मिश्र**; **सोमेश्वर भट्ट** ने *तंत्रवार्तिक* पर *न्यायसुधा* (जो *राणक* के नाम से भी जाना जाता है) शीर्षक टीका लिखी; *श्लोकवार्तिक* पर **पार्थसारथी मिश्र** (1300 ई.) ने भी एक टीका लिखी *न्यायरत्नाकर*; पार्थसारथी मिश्र *तंत्ररत्न* और मीमांसा पर एक स्वतंत्र ग्रंथ *शास्त्रदीपिका* के भी रचयिता हैं; **वेंकट दीक्षित** की *वार्तिकाभरण* कुमारिल की *टुप्टीका* की व्याख्या है ।

कुमारिल के बाद मीमांसा-शास्त्र के सबसे चमकते सितारे हैं **प्रभाकर** । प्रभाकर ने शबरस्वामी के *भाष्य* पर *बृहती* नाम से टीका लिखी - कुमारिल जहाँ यत्र-तत्र शबर की आलोचना करते हैं, वहीं प्रभाकर अपनी *बृहती* में शबर का अनुसरण करते दिखते हैं । मंडन और प्रभाकर दोनों कुमारिल के शिष्य थे और कहा जाता है कि प्रभाकर की विलक्षण प्रतिभा को देखते हुए कुमारिल ने ही उन्हें *गुरु* की उपाधि दी थी । प्रभाकर के मत को *गुरुमत* के नाम से भी जाना जाता है ।

कुमारिल की तरह प्रभाकर की *बृहती* पर भी कई टीकाएँ लिखी गईं । एक तो प्रभाकर के शिष्य **शालिकनाथ** की टीका *ऋजुविमाला* ही है । उन्होंने प्रभाकर के विचारों को लोकप्रिय शैली में प्रस्तुत करते हुए *प्रकरणपंचिका* शीर्षक से एक ग्रंथ की भी रचना की थी । शालिकनाथ की रचना में बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्त्ति का भी उल्लेख है । **भवनाथ** ने अपने *न्यायविवेक* में प्रभाकर-मत का विस्तार से विवरण दिया है । प्रभाकर के अनुयायी दो शाखाओं में बँट गये थे - *जरतप्रभाकराः* और *नव्यप्रभाकराः* । मीमांसा की एक तीसरी शाखा - *मुरारी शाखा* - का ज़िक्र दार्शनिक साहित्य में आता है, हालांकि इस शाखा की कोई रचना अब उपलब्ध नहीं है । इनका मत *मिश्रमत* के नाम से जाना जाता है ।

जैमिनीय मीमांसा की एक काव्यात्मक प्रस्तुति **माधव** की *न्यायमालाविस्तर* है - पद्य के साथ गद्य में टीका भी दी गई है । **अप्पय दीक्षित** (1552-1624) अपनी *विधिरसायन* में कुमारिल की कड़ी आलोचना करते हैं । सत्रहवीं सदी

में **आपदेव** ने *मीमांसान्यायप्रकाश* शीर्षक से एक लोकप्रिय ग्रंथ की रचना की । आपदेव की रचना पर आधारित **लौगाक्षि भास्कर** का *अर्थसंग्रह* भी मीमांसकों के बीच एक चर्चित कृति है । इसी तरह, कुछ और नाम हैं - **खण्डदेव** (सत्रहवीं सदी) जिनकी प्रमुख कृतियाँ हैं *भाट्टदीपिका* और *मीमांसाकौष्टुभ*; **राघवानन्द** (*मीमांसासूत्रदिधिति*) ; **रामेश्वर** (*सुबोधिनी*) ; **विश्वेश्वर** (उर्फ **गागाभट्ट**, *भाट्टचिंतामणि*), आदि ।

वेदान्त देशिक ने अपनी रचना *सेश्वर मीमांसा* में मीमांसा और वेदान्त के सिद्धान्तों के बीच समन्वय स्थापित करने की कोशिश की - वे **रामानुज** के अनुयायी थे और पूर्व तथा उत्तर मीमांसा को एक ही सिक्के के दो पहलू मानते थे । संक्षेप में यही है मीमांसा की वंशावली । स्रोत : सर्वपल्ली राधाकृष्णन (1941), *इंडियन फ़िलॉसॉफ़ी*, खण्ड 2, अध्याय 6, *द पूर्व मीमांसा* : 374-378.

[8] सर्वपल्ली राधाकृष्णन (1941) : 179 (पादटिप्पणी 2).

[9] *ऋग्वेद* के *नासदीय सूक्त* (10.129) की अन्तिम पंक्ति - इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न । यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद ।।7।। 'वह मूल स्रोत जिससे यह विश्व उत्पन्न हुआ, और क्या वह बनाया गया या अकृत था, (इसे) वही जानता है या नहीं जानता है, जो कि उच्चतम द्योलोक से शासन करता है, जो सर्वदर्शी स्वामी है ।।' अनुवाद : राहुल सांकृत्यायन (1944) : 388.

[10] *बृहदारण्यक उपनिषद्* (1951), 1.4.10 : 60-61.

[11] वही, 4.4.10 : 366.

[12] राहुल सांकृत्यायन (1944) : 563.

[13] वही : 777. बौद्ध वंशावली के लिए देखें : राहुल सांकृत्यायन (1937), *पुरातत्व निबंधावली*, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग : 121-134 (अध्याय 8, *महायान बौद्ध धर्म की उत्पत्ति*), 205-218 (अध्याय 11, *बौद्ध नैयायिक*).

[14] वही : 797-801.

[15] वही : 758.

[16] प्रश्न : "मौन क्या है ?" रमन महर्षि : "वह स्थिति जो वाक् और विचार का अतिक्रमण कर सके, मौन है । वह ध्यान है जिसमें कोई मानसिक हरकत नहीं होती । मन को काबू में लाना, यही ध्यान (मेडीटेशन) है । गहरा ध्यान एक ऐसा कथन है जो चिरंतन है । मौन हमेशा मुखरित होता है ; वह भाषा का चिरंतन प्रवाह है जिसे हम बोलकर तोड़ देते हैं ; शब्द इस मूक 'भाषा' में बाधा डालते हैं । व्याख्यान व्यक्तियों को घण्टों मनोरंजित कर सकते हैं, बिना उनका रत्ती भर सुधार किये, जब कि मौन चिरंतन रहता है और समूची मानवजाति के लिए कल्याणकारी सिद्ध होता है । बोले हुए वचन उतने मुखर नहीं होते, जितना मौन होता है । मौन अनवरत् रहता है । .. कौन-सी भाषा उससे बेहतर हो सकती है ?" पता नहीं लेखक रमण महर्षि के इस कथन पर क्या कहेंगे, लेकिन विट्गेन्स्टाइन इसे पढ़कर अवश्य ही आह्लादित हो जाते । निर्मल वर्मा (1997) : 58.

[17] *तैत्तिरीय उपनिषद्* (1986), I.ii.1 : 12-13. 'शीक्षां व्याख्यास्यामः । वर्णः स्वरः । मात्रा बलम् । साम सन्तानः । इत्युक्तः शीक्षाध्यायः ।।1।।'

[18] "छन्द की लय से हमारा तात्पर्य यह है कि किसी छंद में सबल तत्त्व तथा दुर्बल तत्त्वों का परस्पर विनिमय तथा उनकी स्थिति कैसी है, इन सबल तथा दुर्बल तत्त्वों के विनिमय तथा संयोजन का विधान किस तरह का है, तथा इनके तत्तत वर्गों का उक्त छंद में क्या संबंध है ? 'लय' से हमारा तात्पर्य विभिन्न उच्चरित ध्वनियों या अक्षरों के क्रमिक उतार-चढ़ाव से है जो अक्षरों के उतार-चढ़ाव के साथ ही साथ काव्यार्थ या भाव को गतिमान् बनाते हैं, उसके भी उतार-चढ़ाव का संकेत करते हैं । यह उतार-चढ़ाव प्रत्येक छंद में एक निश्चित समय-सीमा में आबद्ध रहता है । .." डॉ. भोलाशंकर व्यास (1962) : 292.

[19] नवज्योति धर्म को महज़ आध्यात्मिकता मानने, ध्यान लगाने का काम मानने और कर्मकाण्ड को दबाकर रखने के लिए गांधी और अन्य लोगों की आलोचना करते हैं (पृ. 57) । वे इस बात पर ज़ोर देते हैं कि धर्म व्यावहारिक है, अनुष्ठानिक है और कार्य भी है । बहरहाल, गांधीजी को यह भली-भाँति पता था कि धर्म व्यावहारिक है, अनुष्ठानिक है और कार्य भी है । लेकिन धर्मों के बीच विवाद की स्थिति में धर्मों में विद्यमान **अध्यात्म-तत्त्व** ही वह माध्यम है जो उनके बीच सृजनात्मक अन्तःक्रिया को संभव बना सकता है, उनके बीच संवाद में और उन्हें एक-दूसरे के क़रीब लाने में सहायक हो सकता है । इस सृजनात्मक अन्तःक्रिया के जरिये ही समाज में धार्मिक समुदायों के बीच पारस्परिक सम्मान और सद्भाव साकार होता है । आध्यात्मिकता पर ज़ोर देने का यही कारण था, न कि धर्मों की आनुष्ठिकता का अज्ञान ।

[20] राधाकृष्ण चौधरी (2010) : 225-227.

[21] बलदेव मिश्र (1962) : 65.

[22] राजा राघव सिंह के शासनकाल (1701-1739) में 1720 के आसपास दरभंगा राज के एक नौकर *बीरु कुर्मी* को धरमपुर परगना (पूर्णिया) में लगान वसूली की जिम्मेवारी सौंपी गई । राज मुख्यालय से दूर जाने के कुछ ही महीनों बाद बीरु स्वतंत्र हो गया और उसने लगान देना बंद कर दिया । उसके इस विद्रोह को दबाने के लिए राजा को अपना सशस्त्र बल भेजना पड़ा । इस संघर्ष में बीरु और उसके बेटे की हत्या के बाद ही विद्रोह पर काबू पाया जा सका । जटाशंकर झा (1962) : 37. राजा राघव सिंह की मृत्यु के बाद उनकी दूसरी पत्नी सती हो गई थी ।

[23] उपेन्द्र ठाकुर (1962) : 90-104.

[24] राधाकृष्ण चौधरी (2010) : 225-226.

[25] वही : 227.

[26] जटाशंकर झा (1962) : 71.

[27] *वर्णरत्नाकर ऑफ़ ज्योतिरीश्वर-कविशेखराचार्य* (1940): 1. पहले पृष्ठ पर ही मंद और अपराधी जातियों की सूची है। पाँचवें कल्लोल में कोच, किरात, कोल, भील, षस, पुलिन्द, सबर आदि जनों की सूची है: 37. इसकी भूमिका अँग्रेजी में सुनीति कुमार चटर्जी और मैथिली में बबुआ मिश्र ने लिखी है ।

[28] *कालिदास ग्रंथावली* (1950), '*अभिज्ञानशाकुन्तलम्*' : 15.

[29] *महाभारत* (1973), प्रथम खण्ड, आदिपर्व के अन्तर्गत स्वयंवर पर्व में धृष्टद्युम्न का प्रत्यागमनविषयक एक सौ इक्यानबेवाँ अध्याय: 554.

[30] हाल के वर्षों में समाजशास्त्रीय रचनाओं तथा पत्रकारिता में दलित और आदिवासी शब्दों को हटाने की एक तरह से मुहिम चलायी जा रही है । वैसे मुझे अनुसूचित जाति/जनजाति जैसे संवैधानिक पदों के प्रयोग पर कोई आपत्ति नहीं है, फिर भी मैंने सचेत रूप से दलित-आदिवासी शब्दों का प्रयोग किया है । इन शब्दों के प्रयोग का अपना इतिहास है, और इनका प्रयोग रोकने के पीछे उद्देश्य उस इतिहास को मिटाना है । समाजशास्त्रीय रचनाओं में शब्दों/पदों के प्रयोग की रचनाकारों को स्वतंत्रता है - इसे कोई भी निर्देशित नहीं कर सकता । यह अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अभिन्न अंग है । इसे निर्देशित करना एक खतरनाक प्रवृत्ति है ।

[31] इम्तियाज़ अली की एक लांग-शार्ट फ़िल्म है 'द अदर वे' । श्वास-प्रश्वास के बीच अन्तराल की तरह यह भी एक अन्तराल की फ़िल्म है - शादी के लिए दुल्हन के तैयार होने और मण्डप पर बैठने के बीच का अन्तराल । इसी अन्तराल में नायिका फ़ोटोग्राफ़र के साथ एक अंतरंग क्षण में कहती है: 'शादी के पहले भी मैं अच्छी थी, शादी के बाद भी अच्छी बन कर ही रहना है, तो मैं बुरी कब बनूँगी?' 'गुड गर्ल्स डु नॉट मेक हिस्ट्री' वाली टी-शर्ट पहनी लड़कियाँ आपको सड़कों पर प्रायः दिख जाएँगी । कुछ ऐसी स्थितियाँ ही रही होंगी कि पुण्य कमाने के शोर के बीच कुछ तांत्रिक सम्प्रदायों ने भगवान को भी पाप में शामिल कर लिया होगा ।

[32] कार्ल मार्क्स (1978): 101-102. हिन्दी अनुवाद: भीष्म साहनी.

[33] *चतुर्भाणी* (1959): 12-13. 'भूमिका' में मोतीचन्द्र लिखते हैं: 'शूद्रक विरचित *पद्मप्राभृतकम्* में दन्दशूकपुत्र दत्तकलशि नाम के एक वैयाकरण का उल्लेख है । उसकी बातचीत से पता चलता है कि कातंत्रिकों ने उसे तंग कर रखा था पर उसका उनपर जरा भी विश्वास नहीं था । उद्धरण इस बात का सूचक है कि जिस समय *पद्मप्राभृतकम्* की रचना हुई उस समय पाणिनीय और कातंत्रिक वैयाकरणों में काफ़ी रगड़ रहती थी । बहुत संभव है कि इस विवाद का युग गुप्तकाल रहा हो जब बौद्धों में कातंत्र-व्याकरण का काफ़ी प्रचार बढ़ा । कातंत्र अथवा कौमार या कालाप शर्ववर्मन् की रचना थी । विंटरनित्स के अनुसार कातंत्र की रचना ईसा की तीसरी सदी में हुई तथा बंगाल और कश्मीर में इसका विशेष प्रचार हुआ । आरम्भ में उसके चार खण्ड थे पर भोट भाषा और दुर्गसिंह की टीका में पूरक अंश भी आ गये हैं । इसके कुछ अंश मध्य एशिया से भी मिले हैं । (कीथ, *ए हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर*: 431)'

[34] डोमन साहू 'समीर' (1998): 204, 251.

[35] 'कामस्तदग्रे समवर्तताधिमनसो रेतः प्रथमं यदासीत् । सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ।।4।।' *ऋग्वेद*, नासदीय सूक्त, 10.129. 'तब पहले काम (कामना) मौज़ूद था, जो मन में प्रथम रेत (वीर्य) था । कवियों ने बुद्धि द्वारा हृदय में विचार करके असत् में उस सत् को प्राप्त किया ।' अनुवाद: राहुल सांकृत्यायन (1944): 388.

[36] *माण्डूक्य उपनिषद्* (2000): 29. सातवाँ श्लोक इस प्रकार है: 'विभूति प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः । स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता ।।7।।'

[37] छंदों में यति-व्यवस्था छंद-अनुशासन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है । पाठकों ने 'डर्टी पिक्चर' का '*उल्लाला*' गीत अवश्य सुना होगा । *उल्लाला* एक द्विपदी छंद है - मात्रा तथा यति (विराम-चिह्न) के अलग-अलग प्रयोगों के कारण इसके दो भेद हो जाते हैं । 28 मात्राओंवाले छंद में 15, 13 पर यति की व्यवस्था है - 'पंद्रह कला विराम करि, तेरह बहुरि निहारि । पुनि पंद्रह तेरह द्विपद, उल्लालहि सु विचारि ।।' (केशवदास, *छंदमाला*); वहीं 26 मात्राओंवाले छंद में 13, 13 पर यति की व्यवस्था है - 'तेरह तेरह कला पै होत जहाँ विश्राम । ताहि सबै कवि कहत हैं उल्लाला यह नाम ।।' (नारायणदास वैष्णव, *छंदसार*) । भोलाशंकर व्यास (1962): 431-33.

[38] आरम्भ में वैदिक छंदों के सात प्रकार थे - 'गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती च प्रजापतेः । पंक्तिस्त्रिष्टुभ जगती च सप्तच्छदांसि तानिह ।।' गायत्री (त्रिपात् छंद, प्रत्येक चरण में आठ वर्ण), उष्णिक् (त्रिपात् छंद, प्रथम-द्वितीय चरण आठ वर्ण, तृतीय चरण बारह वर्ण), अनुष्टुप (चतुष्पात् छंद, प्रत्येक चरण में आठ वर्ण), बृहती (चतुष्पात् छंद, प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ चरण आठ वर्ण, तृतीय चरण बारह वर्ण), पंक्ति (पंचपात्, प्रत्येक चरण आठ वर्ण), त्रिष्टुप (चतुष्पात्, प्रत्येक चरण ग्यारह वर्ण), जगती (चतुष्पात्, प्रत्येक चरण बारह वर्ण) । इन्हीं में से उष्णिक के अवांतर भेद पुरुउष्णिक तथा ककुप्, बृहती के अवांतर भेद सतोबृहती, पंक्ति के अवांतर भेद प्रस्तार पंक्ति की गणना की जाती है । वैदिक छंदों में रूढ़ नियम नहीं हैं । एक या दो वर्ण न्यून या अधिक पाये जाते हैं । वर्णों के न्यूनाधिक होने से गायत्री के ही निचृत् (23 वर्ण), भुरिक (25 वर्ण), विराट् (22 वर्ण), और स्वराट् (26 वर्ण) भेद हो जाते हैं । इसी तरह अति जगती (13 वर्णों का चतुष्पात् छंद), शक्करी (14 वर्णों का चतुष्पात् छंद), अतिशक्करी (15 वर्णों का चतुष्पात् छंद), अष्टि (16 वर्णों का चतुष्पात् छंद), अत्यष्टि (17 वर्णों का चतुष्पात् छंद) आदि भी मिलते हैं । छंदःसांकर्य (प्रगाथ) का यहाँ उदाहरण देना ज़रूरी नहीं - इसके बिना हमारी गीत-संगीत की दुनिया कितनी नीरस होती, इसका सहज ही अंदाज़ा लगाया जा सकता है ।

[39] *तैत्तिरीय उपनिषद्* (1986), अध्याय III, I.iii.1: 13-15.

[40] *बृहदारण्यक उपनिषद्* (1951), अध्याय 1, 1.4.17: 72-73. यही प्रसंग *तैत्तिरीय उपनिषद्* में इस रूप में है: 'पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशाः । अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि । आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा । इत्यधिभूतम् । अथाध्यात्मम् । प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः । चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक् । चर्म मांसं स्नावास्थि मज्जा । एतदधिविधाय ऋषिरवोचत् । पाङ्क्तं वा इदं सर्वम् । पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तं स्पृणोतीति ।।1।।' *तैत्तिरीय उपनिषद्* (1986), अध्याय VII, I.vii.1: 35-36.

इस विचार-परम्परा में एक से लेकर बारह के अंकों और उसके गुणकों, सोलह, अठारह, चौबीस, चौंसठ, एक सौ आठ आदि को दिव्य महिमा प्रदान की गई है । एक (अद्वैत, एक ब्रह्म दूसरा कोई नहीं), दो (द्वैत, जीवात्मा और परमात्मा, प्रकृति और पुरुष), तीन (त्रिदेव - ब्रह्मा-विष्णु-महेश, त्रिशक्ति - महाकाली-महालक्ष्मी-महासरस्वती, तीन लोक, शिव-सदाशिव-परमशिव), चार (चार वेद, चार युग, चतुर्भुज-विष्णु, चार दिशाएँ), पाँच (पंक्ति, पाँच महाभूत आदि, पहले ज़िक्र हो चुका है), छः (छः कृत्तिकाएँ, षष्ठी माता), सात (सप्तर्षि, कुण्डलिनी के सात चक्र, सप्तसिंधु, सप्ततंतु-मीमांसा आदि), आठ (अष्टभुजा-दुर्गा, आठ वसु - ध्रुव-मव-सोम-आप-अनल-अनिल-प्रत्युष-प्रभाष, आठ दिक्पाल - इन्द्र-अग्नि-यम-निर्ऋति-वरुण-मरुत्-कुबेर-इशान आदि), नौ (नवरात्रि, नवग्रह आदि), दश (दशावतार, दश महाविद्याएँ आदि), ग्यारह (पाँच इन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन), बारह (द्वादश आदित्य, द्वादश ज्योतिर्लिंग, बारह मास, बारह राशियाँ आदि), सोलह (षोडशी-तंत्र, षोडशोपचार-आयुर्वेद, सोलह श्रृंगार आदि), अठारह (गीता के अठारह अध्याय, अठारह दिनों का महाभारत युद्ध आदि) । अठारह से याद आया । 30 जून, 2017 की मध्यरात्रि को माननीय सभासदों की तालियों की गड़गड़ाहट के बीच संसद के केन्द्रीय कक्ष में जी एस टी काउन्सिल की अठारह बैठकों की तुलना गीता के अठारह अध्यायों से कर जी एस टी को दिव्य महिमा से मंडित किया गया । थोड़ी चूक रह गई - जी एस टी के पाँच स्लैब (0, 5, 12, 18, 28) को **पंक्ति** की महिमा प्रदान कर उसे दोहरी दिव्यता प्रदान की जा सकती थी ।

[41] पेड्रो डोमिंगोस (2015), *द मास्टर ऐलगोरिद्म*, अध्याय 6, *इन द चर्च ऑफ़ द रेवेरेंड बायेस: फ़्रॉम यूज़ीन ओनेगिन टु सिरि* : 152-155.

[42] वही, अध्याय 2, *द मास्टर ऐलगोरिद्म* : 25-26.

[43] पीटर रुबिन (2018), *फ़्यूचर प्रेज़ेंस*, अध्याय 1, *प्रेज़ेंस: व्हाट इट इज़, व्हेयर टु फ़ाइंड इट, हाउ टु स्टे देअर* : 28-31.

[44] वही : 31. ओकुलस रिफ़्ट पहला हाइ-एंड वी आर सिस्टम है जिसे 2016 में बाज़ार में उतारा गया । स्मार्टफ़ोन का उपयोग करनेवाले कुछ हेडसेट हैं गूगल कार्डबोर्ड और सैमसंग गियर वी आर.

[45] बाइस निग्रहस्थान इस प्रकार हैं - प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासन्न्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, न्यून, अप्राप्तकाल, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोग्योपेक्षणा, निरनुयोग्यानुयोग, अपसिद्धान्त, और हेत्वाभास । राधाकृष्णन (1941) : 115, पादटिप्पणी 2.

[46] तर्क के पाँच प्रकार : प्रमाणवाधितार्थप्रसङ्ग, आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रिक, अनवस्था । वही : 114.

संदर्भ

अभिनव भारती (1973), प्रधान सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली.

उपेन्द्र ठाकुर (1962), *संस्कृत लर्निंग इन मिथिला अंडर द खंडवला डायनेस्टी*, द जर्नल ऑफ़ द बिहार रिसर्च सोसायटी, खण्ड XLVIII, जनवरी-दिसम्बर, 1962, पटना.

कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स (1978), *उपनिवेशवाद के बारे में: लेख और पत्र*, इसी में संकलित कार्ल मार्क्स का लेख *भारत में ब्रिटिश राज के भावी परिणाम*, अनुवाद भीष्म साहनी, प्रगति प्रकाशन, मास्को.

कालिदास ग्रंथावली (1950), सम्पादक-अनुवादक: सीताराम चतुर्वेदी, इसी में संकलित *अभिज्ञानशाकुन्तलम्*, अखिल भारतीय विक्रम परिषद, काशी.

चतुर्भाणी (1959), सम्पादक-अनुवादक: मोतीचन्द्र और वासुदेव शरण अग्रवाल, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय प्राइवेट लि., बम्बई.

छांदोग्य उपनिषद् (1983), मूल संस्कृत के साथ अँग्रेज़ी अनुवाद: स्वामी गंभीरानंद, अद्‌वैत आश्रम, कलकत्ता.

जटाशंकर झा (1962), *हिस्ट्री ऑफ़ दरभंगा राज*, द जर्नल ऑफ़ द बिहार रिसर्च सोसायटी, खण्ड XLVIII, जनवरी-दिसम्बर, 1962, पटना.

डोमन साहु 'समीर' (1998), *हिन्दी और संताली: तुलनात्मक अध्ययन*, श्री आत्मबल्लभ जैन स्मारक शिक्षण निधि, दिल्ली.

तैत्तिरीय उपनिषद् (1986), मूल संस्कृत के साथ अँग्रेज़ी अनुवाद: स्वामी गंभीरानंद, अद्‌वैत आश्रम, कलकत्ता.

निर्मल वर्मा (1997), *धुंध से उठती धुन*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.

पीटर रुबिन (2018), *फ़्यूचर प्रेज़ेंस*, हार्पर वन, न्यूयार्क.

पेड्रो डोमिंगोस (2015), *द मास्टर ऐलगोरिद्म*, एलेन लेन (पेंग्विन रैंडम हाउस यू के), लंदन.

बलदेव मिश्र (1962), *मिथिला में ज्योतिष*, द जर्नल ऑफ़ द बिहार रिसर्च सोसायटी, खण्ड XLVIII, जनवरी-दिसम्बर, 1962, पटना.

बृहदारण्यक उपनिषद् (1951), श्री रामकृष्ण मठ, मायलापुर, मद्रास.

भोलाशंकर व्यास (1962), *प्राकृत पैंगलम*, भाग 2, प्राकृत ग्रंथ परिषद, वाराणसी.

महाभारत (1973), अनुवाद: पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम', प्रथम खण्ड (आदिपर्व और सभापर्व), गीता प्रेस, गोरखपुर.

माण्डुक्य उपनिषद् (2000), मूल संस्कृत के साथ अँग्रेज़ी अनुवाद: स्वामी गंभीरानंद, अद्‌वैत आश्रम, कलकत्ता.

मोहनलाल महतो 'वियोगी' (1958), *जातककालीन भारतीय संस्कृति*, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना.

राधाकृष्ण चौधरी (2010), *मिथिलाक इतिहास* (मैथिली), श्रुति प्रकाशन, दिल्ली.

राहुल सांकृत्यायन (1944), *दर्शन दिग्दर्शन*, किताब महल, इलाहाबाद; *पुरातत्त्व निबंधावली* (1937), इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग.

वर्णरत्नाकर ऑफ़ ज्योतिरीश्वर कविशेखराचार्य (1940), रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बेंगाल, कलकत्ता.

वासुदेव शरण अग्रवाल (1964), *हर्षचरित: एक सांस्कृतिक अध्ययन*, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना.

सर्वपल्ली राधाकृष्णन (1941), *इंडियन फ़िलॉसॉफ़ी*, खण्ड 2, जॉर्ज अलेन एण्ड अनविन, लंदन.

****